तत्त्वमसि का अर्थ

लेखक—

श्री दण्डी संन्यासी रामतीर्थ जी

सम्मति

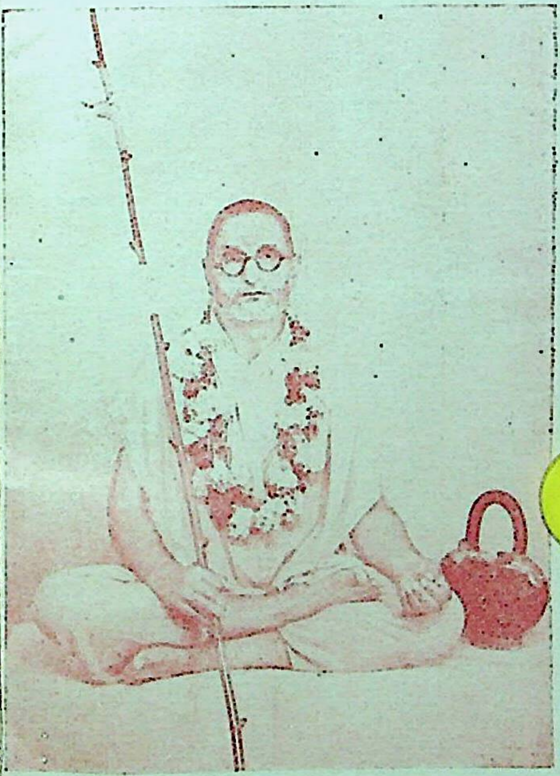
दंडी संन्यासी श्रीरामतीर्थ जी लिखित 'तत्त्वमसि का अर्थ' नामक लेख मैं ध्यानपूर्वक देख गया हूँ। आपने इस बातपर विशेष बल दिया है कि जो लोग 'तत्त्वमसि' महावाक्यमें 'तत्' पदका वाच्यार्थ ईश्वर और लक्ष्यार्थ ब्रह्म तथा 'त्वं' पदका वाच्यार्थ जीव और लक्ष्यार्थ कूटस्थ आत्मा एवं शुद्ध सत्त्वगुण मायासहित सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर सर्वव्यापक और समग्र सुषुप्ति तथा महाप्रलय ब्रह्मका कारण शरीर मानते हैं। उनके मतमें सच्चिदानन्दकी मायातीत शुद्ध निर्गुण ब्रह्म-अवस्था सिद्ध नहीं होती; किन्तु विशिष्टाद्वैत ब्रह्मरूप ही सिद्ध होता है। इसलिए मनरूप इच्छारहित शुद्ध सत्=सच्चिदानन्द को 'तत्' पदसे और मन-सहित 'सत्' को 'त्वं' पदसे ग्रहण करना चाहिए; अर्थात् तत् ब्रह्म है और त्वं जीव है। दृष्टांत में 'तत्' सूर्य, मृत्तिका, सुवर्ण या लोह स्थानीय हैं। और 'त्वं' प्रतिबिम्ब, घट, आभूषण या पिण्ड स्थानीय हैं। तत्में त्वंका आरोप ऐसे है जैसे राजकुमारमें भीलपनका या कुन्तीपुत्र कर्णमें राधेय का। शुद्ध सात्त्विक मनरूप इच्छासहित आदित्य-स्थानी सच्चिदानन्द अन्तर्यामी ईश्वर है। वह स्वरूपसे व्यापक नहीं, किन्तु उसका ज्ञान व्यापक है या ज्ञानद्वारा स्वयं। सुषुप्ति तथा महाप्रलय की आदिम-अन्तिम अवस्थाएं सच्चिदानन्द आत्माका कारण शरीर है और इन दोनों की मध्य अवस्था (गाढ़ अवस्था) सच्चिदानन्दकी शुद्ध अवस्था है।

लेखक महोदय की यह व्यवस्था मुझे मान्य है। क्योंकि ऐसा मानने से सुषुप्ति और प्रलयको सच्चिदानन्दका कारण शरीर माननेवाली तथा ब्रह्मरूप माननेवाली दोनों प्रकारकी श्रुतियां चरितार्थ हो जाती हैं।

जिस किसी विद्वान्को इस बातपर विप्रतिपत्ति हो वह अपने अभिप्रायको लिखित रूपमें सहर्ष प्रकट कर सकता है।

निगमानन्द परमहंस
निगम-निवास 'हरिद्वार'

ता० ४-४-१९५९ ई०



श्री १०८ दण्डी सन्यासी रामतीर्थजी

ॐ

तत्त्वमसि का अर्थ

लेखक—

श्री दण्डी संन्यासी रामतीर्थ जी

प्रकाशक—

मुरारिलाल सोनी 'खत्री' मुहल्ला सोनियां 'लुधियाना'

पुस्तक-प्राप्ति स्थान—
पंडित अमोलकराम ज्योतिषी
मंदिर सोनियां, लुधियाना

लेखक का निवासस्थान—
सर्दी में—मन्दिर सोनियां, पुराना बाजार, लुधियाना
गर्मी में—रामप्यारी का रामभवन, भूपतवाला, हरिद्वार

पहली बार
१०००

वैं० वि० सं० २०१६
शाकः सं० १८८०

मुद्रकः—
हरिश्चन्द्र—यमुना प्रेस,
हरिद्वार ।

तत्त्वमसि का अर्थ

श्री गुरुभ्यो नमः

हिरण्यगर्भमुपास्महे

नमोऽस्तु ब्रह्मणे तस्मै सर्वदेव स्वयंभुवे।
मूलभूताय जगतस्तथा वेद-द्रुमस्य च ॥

तत्त्वमसि वाक्यके अर्थकी निर्विघ्न परिसमाप्तिके लिए मैं हिरण्यगर्भ भगवान्‌को नमस्कार करता हूँ, जो सदा ही अपने आपसे प्रकट होते हैं और जो जगत् तथा वेदरूपी वृक्षके कारण हैं।

"हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे" ऋग्वेद तथा यजुर्वेदके इत्यादि प्रसिद्ध मंत्रोंसे आपका हिरण्यगर्भ नाम है। आप सबसे पहले प्रकट हुए तथा आप समस्त प्राणियोंके एक ही स्वामी हैं। (मुंडक उप० खंड १) "ओं ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता"—ब्रह्मा देवताओंसे पहले प्रकट हुए जो कि संसारके कर्ता तथा उसके रक्षक हैं। अर्थात् आपका ब्रह्मा नाम है। आप ब्रह्मविद्याकी वंश-परंपराके भी प्रवर्तक हैं। (बृ० उप० अ० २ ब्राह्मण ६ तथा अ० ४ ब्राह्मण ६ तथा अ० ६ ब्राह्मण ५) "ब्रह्मा स्वयंभु ब्रह्मणे नमः" इस अन्तिम पाठसे ब्रह्मा स्वयंभू हैं, ब्रह्मको नमस्कार है। अर्थात् आप अपने आपसे प्रकट होते हैं, इसीसे आपका नाम स्वयंभू है। (कठ उप० अ० १ वल्ली २ मन्त्र १६–१७) "एतद् ह्येवाक्षरं ब्रह्म"

इत्यादि दो मन्त्रोंके अनुसार, आपका नाम अपर ब्रह्म है। आपकी ओंकारके द्वारा उपासना करके मनुष्य ब्रह्मलोकमें प्रवेश करता है। (प्रश्न उप० प्रश्न ५) "एतद्वै सत्यकाम" इत्यादि मंत्रसे अपर ब्रह्म आपका नाम है और आपकी ओंकारके द्वारा उपासना करनेसे ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार आपके अधिदैव आदि और भी अनेकों नाम हैं। (छांदोग्य उप० अ० १ खंड ६ में श्रुति) "य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रु हिरण्यकेश आ प्रणखात्सर्व एव सुवर्णः"। "तस्य यथा कप्यासं पुंडरीकमेवमक्षिणी" जो यह सूर्यके अन्दरमें सुवर्णमय पुरुष दिखाई देता है, सुवर्ण जैसी दाढ़ी-मूँछवाला, सुवर्ण जैसे केशोंवाला है तथा यह नखसे लेकर सब सोने जैसा है। उसके नेत्र लाल तथा कमल जैसे हैं। अर्थात् आपका सारा शरीर स्वर्णके समान है; किन्तु नेत्र स्वर्ण जैसे नहीं। इस प्रकार आपका स्वर्ण जैसा सुन्दर रूप है। उक्त श्रुतिके अनुसार आप सूर्यनिवासी हैं। (बृ० अ० २ ब्राह्मण ३) "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे" इत्यादि श्रुतिके प्रमाणसे आप सूर्यनिवासी तथा अधिदैव संज्ञावाले हैं। (ब्रह्मसूत्र अ० ४ पाद ४ सूत्र १७) "जगद्व्यापारवर्जं." तथा (सूत्र १८) "प्रत्यक्षोपदेशात्" इत्यादि दो सूत्रोंके अनुसार आप सूर्यस्थानी तथा जगत्की उत्पत्ति पालन और संहार करनेवाले परमात्मा हैं। पूर्वोक्त श्रुति तथा सूत्रोंके प्रमाणोंसे आपका आदित्य (सूर्य) में निवास है। (बृहदा० उप० अ १ ब्राह्मण ४ श्रुति ६) "अथेत्यभ्यमन्थत्" इस परके शांकर भाष्यका अनुवाद–अत्र विप्रतिपद्यन्ते- पर एव हिरण्यगर्भ इत्येके संसारीत्यपरे।" इस विषयमें विद्वानोंका मतभेद है–कितनोंका कथन है कि परमात्मा ही हिरण्यगर्भ है और कुछ लोग कहते हैं कि वह संसारी है।

प्रथम पक्ष—मंत्राक्षरोंसे सिद्ध होनेके कारण परमात्मा ही हिरण्यगर्भ है। "उसे इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि कहते हैं" इस श्रुतिसे तथा यह "ब्रह्मा है, यह इन्द्र है यह प्रजापति (विराट्) है और यह सम्पूर्ण देवगण है" इस श्रुतिसे एवं "इस परमात्माको कोई अग्नि, कोई मनु और कोई प्रजापति कहता है" "यह जो अतीन्द्रिय, अग्राह्य, सूक्ष्म, अव्यक्त, सनातन, सर्वभूतमय और अचिन्त्य परमात्मा हैं वही स्वयं प्रकट हुआ है" इन स्मृतियोंसे यही सिद्ध होता है।

द्वितीय पक्ष—अथवा संसारी ही हिरण्यगर्भ होना चाहिए; जैसे "उसने समस्त पापोंको दग्ध कर दिया" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है। क्योंकि असंसारी परमात्माके लिए तो पाप-दाहका प्रसंग ही नहीं उपस्थित होता। इसके अतिरिक्त उसका भय और अरतिके साथ संयोग भी सुना गया है। वहां यह भी कहा गया है कि "उसने स्वयं मर्त्य होकर भी अमृतों (देवताओं) की रचना की तथा उसने उत्पन्न होनेवाले हिरण्यगर्भको देखा" इस मंत्रवर्णसे भी संसारी ही सिद्ध होता है। कर्म-विपाक प्रक्रियामें "ब्रह्मा (हिरण्यगर्भ) प्रजापति गण, धर्म, महत्तत्त्व और अव्यक्त-इन्हें ही मनीषी लोग उत्तम सात्त्विकी गति बतलाते हैं" इत्यादि स्मृति भी है।

शंका—किन्तु इस प्रकारका विरुद्ध अर्थ तो संगत नहीं हो-सकता। इससे श्रुतिके प्रामाण्यका विघात होता है।

समाधान—ऐसा मत कहो, क्योंकि एक अन्य कल्पना संभव होनेके कारण इनमें अविरोध हो सकता है। उपाधि-विशेषके सम्बन्धसे एक विशेष प्रकारकी कल्पना होनी सम्भव है। "वह स्थिर होने पर भी दूर चला जाता है, सोया हुआ होने पर भी सब

ओर जाता है, हर्ष और विषादसे युक्त उस देवको मेरे बिना और कौन जान सकता है ?।" इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार उसका उपाधिके ही कारण संसारित्व है, परमार्थतः नहीं। स्वतः तो वह असंसारी ही है। इसप्रकार हिरण्यगर्भका एकत्व भी है और नानात्व भी है। इसी तरह सब जीवोंका भी एकत्व और नानात्व हैं। जैसा कि "तू वह है" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है। हिरण्यगर्भ तो उपाधि-शुद्धिकी अतिशयताकी अपेक्षासे प्रायः परमात्मा ही है—ऐसी श्रुति-स्मृतिवादोंकी प्रवृत्ति हैं। वे उसका संसारित्व तो कहीं कहीं ही दिखाते हैं। किन्तु जीवोंका तो उपाधिगत अशुद्धिकी अधिकताके कारण प्रायः संसारित्व ही बतलाया गया है। सम्पूर्ण उपाधिभेदके बाधकी अपेक्षासे श्रुति और स्मृतिके वादों द्वारा सबका परमात्मभावसे निरूपण किया जाता है। अस्तु—

श्री शंकर आचार्यने उक्त भाष्य द्वारा हिरण्यगर्भको ईश्वर ही सिद्ध किया है। (श्वेताश्वतर उप० अ० ६ मंत्र १८) "ओं यो ब्रह्माणं" जो ईश्वर निश्चय ही सबसे पहले ब्रह्माको उत्पन्न करता है और जो निश्चय ही उसे वेदोंका प्रदान करता है, उस परमात्मज्ञान-विषयक बुद्धिको प्रकट करनेवाले देव ईश्वरको मैं मोक्षकी इच्छावाला साधक शरण रूपमें ग्रहण करता हूँ।

भावार्थ यह है कि सृष्टिकी आदिमें सत्=सच्चिदानन्द ब्रह्ममें जो अहंवृत्ति उत्पन्न हुई उसका नाम "अव्यक्त", अक्षर, प्रकृति, कारणशरीर या आनन्दमयकोश पड़ा। महाप्रलयमें वह वृत्ति स्वाश्रया थी। अर्थात् उस समय वह वृत्ति सच्चिदानन्दमें इतनी विलीन थी कि उसकी उससे पृथक्

गणना ही नहीं की जा सकती। अतः वह सत्, अखण्ड अद्वैत ब्रह्म था। उसमें जब वह वृत्ति या स्फुरणशक्ति प्रकट हो गई तब वह स्वविषया अर्थात् उसकी आच्छादक हो गई। परन्तु सतमें जो वृत्ति रजोगुण और तमोगुण को अभिभूत करनेवाली प्रकट हुई, वह शुद्धसत्त्वगुण-प्रधान माया कहलाई। उसी मायावृत्तिके सहित सत्का नाम ईश्वर = अन्तर्यामी हो गया। सतमें जो वृत्ति रजोगुण और तमोगुणसे दब जानेवाली प्रकट हुई वह मलिन-सत्त्वगुण-प्रधान अविद्या कहलाई। उसी वृत्तिके द्वारा सच्चित् आत्माका नाम 'प्राज्ञ' पड़ गया। वे वृत्तियां गुणोंके तारतम्यसे अनन्त हैं, इसीसे प्राज्ञ भी अनन्त हो गये। जब फिर वह अव्यक्तरूपा या मायारूपा अहंवृत्ति बहिर्मुख हो कर कुछ स्थूल हो गई तब उसका नाम महत्तत्त्व पड़ गया। उसका नाम 'महत्' इसलिए पड़ा है कि उसमें ईश्वरके सर्वज्ञ सर्वशक्तिमत्ता आदि धर्म चमक उठे हैं। जो मलिन-सत्त्वगुण-प्रधान अव्यक्तरूपा या अविद्यारूपा अहंवृत्ति थी, वह कुछ स्थूल होकर बुद्धि कहलाई। ये बुद्धियां प्राणिभेदसे अनन्त हो गईं। महत्तत्त्वका ही स्थूल रूप अहंकार है और बुद्धिका स्थूल रूप मन है। तब फिर महत्तत्त्वरूप अहंकारसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध नामकी पांच तन्मात्राएँ पैदा हो गईं। अर्थात् महत्तत्त्वरूप अहंकार ही पांच विषयरूप से परिणत हो गया। उसके अनन्तर शब्द आदि पांच सूक्ष्मभूतोंके सत्त्वगुण अंशसे क्रमशः श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, और घ्राण नामक पांच ज्ञान-इन्द्रियां उत्पन्न हो गईं। इन्हीं भूतों के रजोगुण अंशसे क्रमशः वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ और पायु नामक पांच कर्म-इन्द्रियां प्रकट हो गईं। इन्हीं भूतोंके सम्मिलित रजोगुण अंशसे प्राण, अपान,

समान, व्यान और उदान नामक पांच प्राण पैदा हो गये। पांच ज्ञान-इन्द्रियां, पांच कर्म-इन्द्रियां, पांच प्राण, मन, और बुद्धि इन सबको मिलाकर १७ तत्त्वोंका लिंगशरीर या सूक्ष्म-शरीर बन गया। इसीलिए महत्तत्त्वप्रधान सूक्ष्मशरीर द्वारा ईश्वरका नाम हिरण्यगर्भ पड़ गया। और बुद्धिप्रधान सूक्ष्मशरीर द्वारा प्राज्ञकी तैजस संज्ञा पड़ गई। बुद्धिप्रधान सूक्ष्मशरीर असंख्य हैं, अतः तैजस जीव भी असंख्य ही हैं। उसके पश्चात् हिरण्यगर्भ भगवान्ने जीवोंके पूर्व किये हुए पुण्यपापरूपी कर्मोंके फलके उपभोगार्थ शब्द आदि पांच सूक्ष्मभूतोंके तमोगुण अंशसे, आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी नामक पांच स्थूलभूतों की रचना की। उनका पंचीकरण करके सब प्रकारकी स्थूल सृष्टि बना दी। अपने स्थूलशरीरकी उपाधिसे हिरण्यगर्भका नाम वैश्वानर या प्रजापति पड़ गया। एवं अपने स्थूलशरीरकी उपाधिसे तैजसका नाम विश्व पड़ा। देव, दानव, मानव, पशु पक्षी आदिके भेदसे स्थूल शरीर असंख्य बन गये। अतः स्थूल उपाधिवाले विश्व नामक जीव भी असंख्य ही हैं। (कठ उप० अ० १ वल्ली ३ मंत्र १०–११) "इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः" तथा "महतः परमव्यक्तम्" इनके अनुसार, इन्द्रियों से परे अर्थ=शब्द आदि विषय हैं, अर्थोंसे परे मन है, मनसे परे बुद्धि है, बुद्धिसे परे महान्=महत्तत्त्व है, महत् से परे अव्यक्त है और अव्यक्तसे परे पुरुष है, पुरुषसे परे कुछ नहीं, वही परत्वकी परम सीमा है। मंत्रोंमें के परे शब्दका अर्थ भिन्न और सूक्ष्म लेना चाहिए। इन मंत्रोंके अनुसार शब्द आदि तन्मात्राओंसे मन तथा बुद्धि भिन्न हैं एवं सूक्ष्म हैं। इसी कारणसे हमने शब्द आदि पांच सूक्ष्म-भूतोंसे मन बुद्धिकी उत्पत्ति नहीं दिखाई। दूसरे, आत्मामें कर्तापन

की उपाधि मन या बुद्धि ही मानी गई है, अतः मन या बुद्धि सब सृष्टिके जनक हैं। इसलिए भी भूतोंसे मन तथा बुद्धिकी उत्पत्ति माननी युक्ति-विरुद्ध है। अस्तु,

जिस प्रकार अपने ही मलिनसात्त्विकी अहंवृत्तिरूप अव्यक्त या कारणशरीर द्वारा सच्चिदानन्द आत्माका नाम प्राज्ञ है, बुद्धिप्रधान सूक्ष्मशरीरके द्वारा प्राज्ञका ही नाम तैजस है, और मनःप्रधान स्थूलशरीरकी उपाधि द्वारा तैजसका ही नाम विश्व है। ये तीनों नाम एक ही आत्माके हैं। उसीप्रकार अपनी ही शुद्ध सात्त्विकी अहंरूप मायावृत्ति द्वारा सच्चिदानन्द ब्रह्मका नाम ईश्वर=अन्तर्यामी है, तथा महत्तत्त्व या बुद्धिप्रधान सूक्ष्म शरीर द्वारा ईश्वरका ही नाम हिरण्यगर्भ है, एवं अहंकार-प्रधान स्थूलशरीर द्वारा हिरण्यगर्भका ही नाम प्रजापति या वैश्वानर है। अतः ईश्वर, हिरण्यगर्भ और वैश्वानर ये तीनों नाम एक ही परमात्माके हैं। अतः आप ही ईश्वररूपसे वेदोंका प्रदान करने वाले हैं और आप ही हिरण्यगर्भरूपसे वेदोंको ग्रहण करते हैं, किन्तु आप स्वामी-सेवक-भावसे वेदोंके दाता और ग्रहीता नहीं, यह मंत्रका भावार्थ है।

पंचदशी प्रकरण १ श्लोक १५—

चिदानन्दमय–ब्रह्म–प्रतिबिम्ब–समन्विता ।
तमो-रजः-सत्त्वगुणा प्रकृति द्विविधा च सा ॥

(महाप्रलयकी मध्य-अवस्थामें सद्ब्रह्मकी शक्तिकी उससे पृथक् गणना नहीं, अतः वह सन् अखंड अद्वैत ब्रह्म था। महा-प्रलयके अन्तमें, अर्थात् सृष्टिके आदिमें वह शक्ति) सत्त्व-रज-स्तमोगुणरूपसे विषमताको प्राप्त होकर प्रकृति कहलाई और वह सच्चिदानन्द ब्रह्मके प्रतिबिंबसहित दो प्रकारकी हो गई ॥१५॥

सत्त्वशुद्धयविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते ।
माया–विंवो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः ॥१६॥

सत्त्वगुणकी शुद्धि और अशुद्धिके कारण (प्रकृतिके) माया और अविद्या नामक दो रूप हो गये, अर्थात् शुद्ध सत्त्व-गुण-प्रधान माया और मलिन–सत्त्वगुण–प्रधान अविद्या कहलाई। मायामें जो चैतन्यका प्रतिबिंब पड़ा वह मायाको अपने वशीभूत करनेके कारण सर्वज्ञ ईश्वर हो गया ॥१६॥

अविद्यावशगस्त्वन्यः तद्वैचित्र्यादनेकधा ।
सा कारणशरीरं स्यात्प्राज्ञस्तत्राभिमानवान् ॥१७॥

अविद्यामें जो चैतन्यका प्रतिबिम्ब पड़ा वह अविद्याके वशंवर्ती होकर उसकी विचित्रता से अनेक प्रकारका हो गया, वह अविद्या कारणशरीर है, उसमें अभिमान करनेसे उसका नाम प्राज्ञ पड़ गया ॥१७॥

प्राज्ञस्तत्राभिमानेन तैजसत्वं प्रपद्यते ।
हिरण्यगर्भतामीशः तयोर्व्यष्टिसमष्टिता ॥२४॥

(सूक्ष्मशरीरकी उत्पत्ति हो जाने पर) प्राज्ञ, सूक्ष्मशरीरमें अभिमान करके तैजस नामवाला हो गया और ईश्वर सूक्ष्मशरीरमें अभिमान करनेसे हिरण्यगर्भ नामक हो गया अर्थात् प्राज्ञका अपने सूक्ष्मशरीरकी उपाधिसे तैजस नाम पड़ा और ईश्वरका अपने सूक्ष्मशरीरकी उपाधिसे हिरण्यगर्भ। उनमें व्यष्टि और समष्टिता है अर्थात् प्राज्ञ परिछिन्न है और हिरण्यगर्भ सर्वरूप है ॥२४॥

अब यहां शंका होती है कि जब ईश्वरकी माया–उपाधि जीवोंकी अविद्या-उपाधियोंसे भिन्न है तब ईश्वर समष्टि (सर्वरूप) कैसे हो गया ? इसका समाधान आगेके श्लोक में करते हैं।

समष्टिरीशः सर्वेषां स्वात्मतादात्म्यवेदनात् ।
तद्भावात्तदन्ये तु कथ्यन्ते व्यष्टिसंज्ञया ॥२५॥

ईश्वर=हिरण्यगर्भ, सभी तैजस जीवोंको अपनेसे अभिन्न जानता है। अतः वह समष्टि कहलाता है। ईश्वरसे भिन्न तैजस जीव सबसे अपनी एकताका ज्ञान न रखनेके कारण व्यष्टि संज्ञावाले कहलाते हैं, अर्थात् ईश्वर वृत्तिज्ञान-द्वारा समष्टि (सर्वरूप) है, किन्तु वह शरीरसे समष्टि नहीं, क्योंकि ईश्वरका अपना शरीर सब जीवोंसे अलग है ॥२५॥

(श्लोक २८) "तैरण्डः" तथा (श्लोक २६) "तैजसा०" के अनुसार अपने स्थूलशरीरकी उपाधिसे हिरण्यगर्भका नाम वैश्वानर हो गया और अपने २ स्थूलशरीरकी उपाधियोंसे तैजस जीवोंके देव, दानव, मानव, पशु, पक्षी आदि अनेकों विश्वनाम हो गये ॥२८॥ ॥२६॥

अतः सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् उपास्य ईश्वर अपनी मायावृत्ति द्वारा सभी जीवोंसे भिन्न ही हैं। इसी कारण आप वृत्तिज्ञान के द्वारा समष्टि हैं; किन्तु शरीरसे समष्टि नहीं। क्योंकि आपका नाम, शरीर,स्थान,धर्म और कर्म जीवोंसे भिन्न है, इसीलिए जीवों के किये हुए शुभ-अशुभ कर्म तथा उनके सुख-दुःखरूपी फल आपको स्पर्श नहीं करते। अर्थात् आप सर्वज्ञ हैं, सर्वव्यापक नहीं। आप ही प्राणियोंके किये हुए पुण्य-पापरूपी कर्मोंके फल-प्रदाता हैं तथा प्रार्थना करने पर बुद्धियोंको शुभकी ओर प्रवृत्त करनेवाले हैं।

संध्या के अंतिम मंत्र "ओं तेजोसि" का अन्तिम पाठ– 'नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परोरजसे०' तुरीयदर्शतपद परो-रजको नमस्कार है। अर्थात् सूर्यमंडल मध्यवर्ती परमात्मा

इन्द्रिय-अगोचर होने के कारण प्रत्यक्ष देखनेमें नहीं आता, इसीलिए वह 'दर्शतपद' कहा जाता है। रजसे परे अर्थात् वह सब लोकोंके ऊपर विराजमान है, अतः वह 'परोरजा' है उसे नमस्कार है। इसप्रकार वेदोक्त नित्यकर्म संध्या-गायत्री आदिके द्वारा उपास्य ब्रह्म=ईश्वर आप ही हैं। भगवान् राम तथा भगवान् कृष्ण प्रातःसायं संध्या-गायत्री-द्वारा आपकी उपासना किया करते थे। ऐसा योगवाशिष्ठ आदि इतिहास तथा पुराणोंमें स्पष्ट ही वर्णन आता है। वेदोंमें आपके समान शुद्धसात्त्विकी माया वृत्ति-संपन्न सर्वज्ञ सर्वशक्तिमत्ता आदि धर्मोंवाला अन्य कोई ईश्वर या ब्रह्म नहीं। जो भी मनुष्य किसी कामनाको मनमें रखकर भेद या अभेद बुद्धिसे आपकी उपासना करता है, उसे मनवांछित फल आपसे मिल जाता है। जो कोई मनुष्य निष्काम भावसे आपकी भक्ति करता है उसके अन्तःकरणके विक्षेपनामक दोषकी निवृत्ति हो जाने से वह ज्ञानका अधिकारी बन जाता है।

इस प्रकार मैं १-स्वयंभू हिरण्यगर्भ आदि नामवाले २-स्वर्ण के समान शरीर अर्थात् रूपवाले तथा ३-आदित्य=सूर्यनिवासी ४-सर्वज्ञ आदि धर्मोंवाले, ५-जगत्की उत्पत्ति आदि कर्म करनेवाले भगवानको नमस्कार करके 'तत्त्वमसि' वाक्यका अर्थ लिखना आरम्भ करता हूँ।

प्रिय पाठको! "तत्त्वमसि" यह वाक्य छांदोग्य उपनिषद् अध्याय ६ खण्ड आठ से लेकर सोहलवें खण्ड तक नौ बार आ चुका है। अद्वैत सिद्धांतवाले लोग इस वाक्यको महावाक्यके नामसे ग्रहण करते हैं। यह वाक्य मनुष्यको अपने वास्तविक स्वरूपका बोध वैज्ञानिक रीतिसे कराता है, 'स्वर्ग है' इसप्रकार परोक्षरूपसे नहीं। अतः इसे वास्तवमें ही महावाक्य

कहना और मानना उचित है। यह वाक्य विवेक आदि साधन-सम्पन्न मनुष्यको दासतासे छुड़ाकर स्वतंत्र बना देता है। अतः यह महावाक्य ही है!

यद्यपि अद्वैत सिद्धांतकी प्रक्रियाएँ अनेकों हैं, और उन सबका ब्रह्म आत्माकी एकतामें ही पर्यवसान है, तथापि केवल प्रक्रियाओंमें श्रद्धा रखनेवाला मनुष्य, तत्त्वको वस्तुतः नहीं जान पाता। इसलिए मनुष्य जबतक छठे अध्यायके सोलह खण्डोंको बहुत सावधानीसे नहीं पढ़ लेता अथवा किसी अध्ययनशील अभ्यासी व्यक्तिसे एकाग्रमन होकर श्रवण नहीं कर लेता, तबतक उसे "तत्त्वमसि" वाक्यका अर्थ भलीभांति भान नहीं होता। क्यों कि यह वाक्य नौ बार कहा जा चुका है और यह भिन्न २ स्थानोंमें प्रयुक्त हुआ है। इसीलिए "तत्त्वमसि" वाक्यके यथार्थ बोधके लिए सोलह खण्डोंका लिखना परमावश्यक है।

स्मरण रहे कि छठे अध्यायमें "सत्" इस पदसे सत् चित् आनन्द या सच्चिदानन्द ब्रह्मका ऐसा पूर्णरूप कहा गया है। क्योंकि सभी उपनिषदोंमें ब्रह्मका पूर्णरूप सच्चिदानन्द ही निश्चित हुआ है। अपना रूप होनेसे सच्चिदानन्द ही आत्मा है। जड़का प्रकाशक होनेसे इसीका नाम परमात्मा है। इस अध्यायमें इसका नाम देवता भी कहा गया है।

छठा अध्याय

"श्वेतकेतु हारुणेय आस"–इत्यादि अरुणका सुप्रसिद्ध पौत्र श्वेतकेतु था। उसके पिता (उद्दालक) ने उससे कहा—हे श्वेतकेतो! तू ब्रह्मचर्य वास कर, क्योंकि हे सोम्य! हमारे कुलमें उत्पन्न हुआ कोई भी पुरुष अध्ययन न करके ब्रह्मबन्धु-सा नहीं

होता ॥१॥ वह श्वेतकेतु बारह वर्षकी अवस्थामें उपनयन करा
चौबीस वर्षका होने पर सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन करके अपने
बड़ा बुद्धिमान और व्याख्यान करनेवाला मानता था। अन
भावसे वह घर लौटा। उसके पिताने कहा—हे सोम्य! तू
ऐसा महामना, पंडितंमन्य और अविनीत है, सो क्या तूने व
आदेश पूछा है ॥२॥ जिसके द्वारा अश्रुत श्रुत हो जाता है, अम
मत हो जाता है और अविज्ञात विज्ञात या विशेष रूपसे ज्ञात
जाता है। यह सुनकर श्वेतकेतु ने पूछा—भगवन्! वह आदे
कैसा है? ॥३॥

हे सोम्य! जिसप्रकार एक मृत्तिकाके पिण्डके द्वा
सम्पूर्ण मृण्मय पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है कि विकार (घट आ
कार्य) केवल वाणीके आश्रयभूत नाममात्र हैं सत्य तो केव
मृत्तिका ही है ॥४॥ हे सोम्य! जिसप्रकार एक लोहमणि (सुव
का ज्ञान होने पर सम्पूर्ण लोहमय (सुवर्ण रूप) पदार्थ जान लि
जाते हैं, क्योंकि विकार (कड़ा कुण्डल आदि) वाणी पर अ
लम्बित नाममात्र है, सत्य केवल सुवर्ण ही है ॥५॥ हे सोम्य
जिसप्रकार नखनिकृन्तन (नहरना) के ज्ञानसे (लोह पिण्ड
ज्ञानसे) सम्पूर्ण लोहेके पदार्थ जान लिये जाते हैं, क्यों
विकार वाणी पर अवलम्बित केवल नाममात्र है, सत्य तो केव
लोहा ही है। हे सोम्य! ऐसा ही वह आदेश भी है ॥६॥ (श्वे
केतु बोला) निश्चय ही वे मेरे पूज्य गुरुदेव इसे नहीं जानते थे
यदि वे जानते होते तो मुझसे क्यों न कहते। अतः अब आ
ही मुझे वह बतलाइए। तब पिताने कहा सोम्य! अच्छ
(बतलाता हूँ) ॥७॥ खण्ड ॥१॥

दूसरा खण्ड

"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" इत्यादि–हे सोम्य!, पहले यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था। उसीके विषयमें किन्हींने ऐसा भी कहा है कि आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय असत् (शून्य) ही था। उस असत् से सत्की उत्पत्ति होती है ॥१॥ भावार्थ–सत् शब्दसे सर्वत्र, सत् चित् आनन्द ऐसा ब्रह्मका पूर्णरूप समझना चाहिए। शांकर भाष्य-"सदेव सदित्यस्तितामात्रं वस्तु सूक्ष्मं निर्विशेषं सर्वगतमेकं निरञ्जनं निरवयवं विज्ञानं यदवगम्यते सर्ववेदान्तेभ्यः"। 'सदेव' सत् यह अस्तित्वमात्र वस्तु का बोधक है, जो कि सम्पूर्ण वेदान्तोंसे सूक्ष्म, निर्विशेष, सर्वव्यापक, एक, निरंजन, निरवयव और विज्ञान स्वरूप जानी जाती है। भाष्यने "सत्" के ऐसे विशेषण दिये हैं। अर्थात् यह जो नामरूप एवं क्रियावान् विकारी जगत् दिखाई देता है अपनी उत्पत्तिसे पहले सत् ही था। शां० भाष्य–"न हि प्रागुत्पत्तेर्नामवद् रूपवद्वेदमिति ग्रहीतुं शक्यं वस्तु सुषुप्तकाल इव। यथा सुषुप्तादुत्थितः सत्त्वमात्रमवगच्छति, सुषुप्ते सन्मात्रमेव केवलं वस्तु इति तथा प्रागुत्पत्तेरित्यभिप्रायः"। सुषुप्तकालके समान उत्पत्तिसे पूर्व यह नामयुक्त अथवा रूपयुक्त है, इस प्रकार वस्तुका ग्रहण नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार सोकर उठा हुआ पुरुष वस्तुकी सत्तामात्रका अनुभव करता है; अर्थात् केवल इतना ही जानता है कि सुषुप्तिमें केवल सन्मात्र वस्तु थी, उसी प्रकार उत्पत्तिसे पूर्व जगत् था, ऐसा ही इसका अभिप्राय है ॥१॥

कुतस्तु खलु–इत्यादि "किन्तु हे सोम्य! ऐसा कैसे हो

सकता है ? भला असत् (शून्य) से सत्की उत्पत्ति कैसे हो सकती है, अतः हे सोम्य ! आरम्भ में यह (नामरूपात्मक जगत्) एकमात्र अद्वितीय सत् ही था, ऐसा आरुणिने कहा ॥२॥

भावार्थ—इसप्रकार पूर्वोक्त भाष्यने महाप्रलय स्थित सद् वस्तु को निर्विशेष निरवयव एवं निरंजन बतलाते हुए स्वगत सजातीय और विजातीय-इन तीन भेदोंसे रहित अखण्ड अद्वैत ब्रह्म सिद्ध किया है। इसीप्रकार पंचदशीके पंचमहाभूत विवेक प्रकरण में भी महाप्रलयकालीन सत्को, स्वगत आदि तीन भेदोंसे शून्य "तथा सद्वस्तुन:०" (श्लोक २१,) इससे लेकर "विजातीयं" (श्लोक २५,) यहां तक अखण्ड अद्वैत ब्रह्म सिद्ध किया है।

यदि कोई व्यक्ति उस अवस्थामें सद् वस्तुको मायारूप विशेषणके सहित मायाविशिष्ट बताए तो उसके लिए कोई दृष्टांत नहीं। क्या कोई भी वैज्ञानिक (साइन्सदान) घट आदि कार्य की उत्पत्तिसे पहले मृत्तिकाके 'इस देशमें घड़े हैं', 'उस ओर मटके हैं' और 'अमुक ओर सकोरे हैं' ऐसा बतला सकता है ? किन्तु जो वह मृत्तिकाकी अव्याकृत अवस्था या पिण्डरूप कारण अवस्था है उसमें भी ऐसा बतलाना असंभव है। इसलिए मृत्तिका शुद्ध है, अद्वैत है और एक है। इसीप्रकार सोने और लोहेको भी कार्यकी उत्पत्तिसे पहले निर्विशेष अद्वैत और एक जानना चाहिए। जब कोई भी व्यक्ति सुषुप्तिमें के सत् आत्मा में 'उस ओर वेद हैं' 'उस ओर कुरान है' तथा 'उस ओर बाइबिल है' तथा 'आस्तिकता-नास्तिकता, साधुता-असाधुता है' आदि सिद्ध नहीं कर सकता। तब फिर महाप्रलयकालीन अनन्त सत् ब्रह्मके 'उस देशमें माया है' और 'उस ओर जीव हैं' ऐसा कैसे सिद्ध कर सकेगा ? अतः वह सत्, मृद् आदि तीन दृष्टांतों

अनुसार द्वैतरहित शुद्ध ब्रह्म था। यदि कोई व्यक्ति "सदेव" इस श्रुतिका ऐसा अर्थ करे कि सत् स्वगत आदि तीन भेदोंसे तो रहित है, परन्तु वह मायाविशिष्ट है, उसका ऐसा कथन परस्पर विरोधी होनेसे मान्य नहीं। अतः वह सत् मायारहित शुद्ध ब्रह्म था, ऐसा अर्थ करना चाहिए ॥२॥

"तदैक्षत"—इत्यादि ··· उस (सत्) ने ईक्षण किया 'मैं बहुत हो जाऊं'–(अनेक प्रकारसे उत्पन्न होऊं)। (इसप्रकार ईक्षण करके) उसने तेज उत्पन्न किया। (तत्पश्चात्) उस (तेज अभिन्न सत्) ने ईक्षण किया 'मैं बहुत हो जाऊं'=नाना प्रकारसे उत्पन्न होऊं। (इसप्रकार ईक्षण करके) उस (तेज अभिन्न सत्) ने जलकी रचना की, इसीसे जहां कहीं पुरुष शोक-संताप करता है वहीं उसे पसीना आ जाता है। उस समय वह तेजसे ही जल की उत्पत्ति होती है ॥३॥

भावार्थ—अब यहां यह शंका होती है कि एकका अनेक होना और अखण्डका खण्डित हो जाना असंगत है। इस शंका का समाधान पहले खण्ड की श्रुतिसे हो जाता है। श्रुति है—"यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ।"=हे प्रिय ! जैसे मिट्टीके एक पिंडसे उसके घट आदि सभी कार्य 'मिट्टी है' ऐसा जान लिया जाता है, विकार यानी मिट्टीका कार्य वाणीका विलासमात्र है, मृत्तिका यही केवल सत्य है। अर्थात् घट आदि कार्यके आदि, मध्य और अन्तमें मृत्तिका एक है, इसीसे वह सत्य है और उसका नाम–रूपात्मक घट आदि कार्य, आदि तथा अन्तमें एकरूप न होने से असत्य है। अतः मृत्तिका व्यवहारमें बहुरूप तथा खण्डित-सी है, और परमार्थतः एक तथा अखण्ड

है। इसीप्रकार सत् ब्रह्म, जाग्रत्-स्वप्नरूपी व्यवहारसे बहुरूप या अनेक-सा है, किंतु सुषुप्ति, समाधि, मरण, महाप्रलय और कैवल्यरूपी परमार्थसे द्वैतरहित अखण्ड तथा एक है। इस विषयको आगे विशेषतः स्पष्ट किया जाएगा। अतः एकसे अनेक-सा हो जाना असंगत नहीं, ऐसा श्रुति को इष्ट है ॥३॥

"ता आप ऐक्षन्त"–इत्यादि ··· उस (जल अभिन्न सत्) ने ईक्षण किया 'हम बहुत होजाएँ'=अनेक रूपसे उत्पन्न हों। उस (जलसे अभिन्न सत्) ने अन्नकी रचना की। इसीसे जहां कहीं वर्षा होती है वहीं बहुत-सा अन्न होता है। वह अन्नादि जलसे ही उत्पन्न होते हैं ॥४॥ खण्ड २ ॥

तीसरा खण्ड

"तेषां खल्वेषां"–इत्यादि ··· उन इन (पक्षी आदि) प्रसिद्ध प्राणियों के तीन ही बीज होते हैं–अण्डज, जीवज और उद्भिज्ज ॥१॥

"सेयं देवतैक्षत"–इत्यादि ··· उस इस (जो सत् ईक्षण से पहले निर्विशेष निर्गुण था, और ईक्षण करके सविशेष या सगुण हो गया) देवताने ईक्षण किया, मैं इस जीवात्मरूपसे इन तीन देवताओंमें अनुप्रवेश करके नाम और रूपको प्रगट करूं ॥२॥

"तासां त्रिवृत्तं"–इत्यादि ··· और उनमें से एक एक देवताको त्रिवृत्त करूं (तेज आदि एक एक भूतके तीन २ भाग करूं) ऐसा विचारकर उस इस देवताने इस जीव-आत्मरूपसे (कर्ता-भोक्तापनसे) ही उन तीन देवताओं में अनुप्रवेश करके नाम-रूपकका व्याकरण किया। अर्थात् नाम-रूपको प्रकट किया ॥३॥

"तासां त्रिवृत्तं"—इत्यादि···उस (सत् नामक) देवताने उनमें से (तेज आदिमें से) प्रत्येकके तीन २ भाग किये । हे प्रिय! जिस प्रकार ये (तेज आदि) तीनों देवता एक एक करके कैसे तीन २ भागों में विभक्त हैं ? वह मेरे द्वारा जान ॥४॥ खण्ड३॥

चौथा खण्ड

"यदग्ने रोहितं रूपं"—इत्यादि सात श्रुतियोंका संक्षिप्त अर्थ—लोक में त्रिवृत्त किये गये अग्निका, आदित्यका, चन्द्रमाका, एवं बिजलीका लालरूप है, वह बिना तीन भाग किये हुये तेजका रूप है । जो सफेद रूप है, वह अत्रिवृत्त (बिना तीन भाग किये हुए) जल का रूप है । जो काला रूप है, वह अत्रिवृत्त पृथ्वीका रूप है। जो अग्नि आदि नाम है, वह वाणी पर अवलम्बित नाममात्र है। इनमें जो तेज आदि तीन रूप हैं वे ही सत् हैं और भी जितने मूर्तिमान् पदार्थ हैं, उनमें ये तीनों ही रूप वास्तविक हैं । हे सोम्य! जिस प्रकार ये तीनों देवता शरीरको प्राप्त होकर तीन २ हो जाते हैं, वह मेरे द्वारा समझले । खण्ड ॥४॥

पांचवाँ, छठा तथा सातवाँ खण्ड

"अन्नमशितं"— इत्यादि श्रुतियोंका संक्षिप्त अर्थ—इस पांचवें तथा छठे खण्ड में, उद्दालक ने श्वेतकेतुको ऐसा उपदेश किया है कि अन्नसे मनकी शक्ति बढ़ती है, जलसे प्राणकी और तेज आदि घृत पदार्थोंसे वाणीकी शक्ति बढ़ती है । सातवें खण्डमें तो श्वेतकेतुसे पंद्रह दिनका उपवास कराकर उसे प्रत्यक्ष अनुभव करा दिया है कि वास्तवमें ही अन्नसे मनकी शक्ति बढ़ती है । ॥खण्ड ५, ६, ७ ॥

इसप्रकार दूसरे खण्डसे लेकर सातवें खण्ड तक एक ही

अद्वितीय सत् ब्रह्मसे, तेज जल अन्न या पृथ्वी इन तीनों भूतं की उत्पत्ति दिखाई गई, और उसके द्वारा इन तीनों भूतोंक त्रिवृत्त=तीन तीन भाग करके उनमें उसी सत्का जीवरूपसे प्रवेश भी कहा गया। परन्तु परमात्मासे सृष्टिकी उत्पत्ति आदि बतलानेवाली श्रुतियोंका तात्पर्य आत्माका वास्तविक स्वरू दिखानेके लिए ही है, उत्पत्ति आदिके ज्ञानार्थ नहीं (बृ० अ २ ब्रा० १ श्रुति २०) 'यथोर्णनाभिः' इत्यादि श्रुति परके शांक भाष्यका अनुवाद "तस्मादुत्पत्त्यादि–श्रुतय आत्मैकत्वप्रतिपा दनपराः"=अतः उत्पत्त्यादि श्रुतियां आत्माका एकत्व प्रतिपाद करनेवाली ही हैं।

इस विषयमें सम्प्रदायवेत्ता (श्रीद्रविडाचार्य) यह आख्या यिका कहते हैं—कोई राजपुत्र पैदा होते ही माता–पिता द्वार त्याग दिया गया। अतः वह व्याधके घरमें पाला–पोसा गया वह अपनी कुलीनता न जानने के कारण अपने को व्या जातिका ही मानकर व्याध जातिके कर्मोंका ही अनुवर्त करता था, 'मैं राजा हूँ' ऐसा मानकर राजोचित कर्म नहीं करत था। जब कोई अत्यन्त कृपालु पुरुष (जो राजपुत्रकी राज प्राप्त करनेकी योग्यता जानता है,) उसे उसकी राजपुत्र का बोध करा देता है और यह बतला देता है कि "तू व्याध नहीं अमुक राजाका पुत्र है, किसी प्रकार इस व्याधके घरमें आ गय है" तो इसप्रकार बोध कराये जाने पर वह व्याध जाति प्रत्ययसे होने वाले कर्मोंको छोड़कर 'मैं राजा हूँ' ऐसा मानक अपने बाप–दादोंके मार्गका अनुसरण करने लगता है। इस प्रकार अग्निकी चिनगारियोंके समान परमात्मासे विभक्त य उसी (परमात्मा) की जातिवाला विज्ञानात्मा यहां देह एवं इन्द्रिय

दि-रूप गहनवनमें प्रविष्ट होने पर असंसारी होकर भी अपनी परमात्म-स्वरूपताको न जानने के कारण 'मैं देहेन्द्रियादिका संघात तथा कृश, स्थूल एवं सुखी या दुखी हूँ, ऐसा मानकर देह एवं इन्द्रियादि सांसारिक धर्मों का अनुवर्तन करता है। किंतु 'तू देहेन्द्रियादि रूप नहीं, अपितु असंसारी ब्रह्म ही है' इसप्रकार आचार्य द्वारा बोध कराये जाने पर यह एषणात्रयकी अनुवृत्तिको छोड़कर 'मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसा जान लेता है। तथा यहां ऐसा कहने पर कि 'तू अग्निसे विस्फुलिङ्गके समान परब्रह्मसे ही च्युत हुआ है। राजपुत्रके राजप्रत्ययके समान उसका ब्रह्मप्रत्यय दृढ़ हो जाता है, क्योंकि अग्निसे च्युत होनेसे पहले अग्निके साथ विस्फुलिंगकी एकता देखी गई है। अतः सुवर्ण, मणि, लोह एवं अग्नि विस्फुलिङ्गादि दृष्टांत एकत्वज्ञान की दृढ़ताके लिए हैं, उत्पत्ति आदि का भेद प्रदर्शित करनेके लिए नहीं। अस्तु,

यदि सातवें खण्डके अन्तमें ही "तत्त्वमसि" इस वाक्यका उपदेश किया जाता, तो इस वाक्यका ऐसा अर्थ हो सकता था कि सृष्टिकी उत्पत्तिसे पहले एक ही अद्वितीय सद् ब्रह्म था, फिर जिसने ईक्षण या इच्छा करके तेज–जल–प्रभृति तीन भूतोंकी उत्पत्ति करके उनका त्रिवृत्त–करण करके उनमें जीवरूपसे प्रवेश किया "तत्त्वमसि" तत्=तस्मै, त्वं=तू, असि=है, अर्थात् उसीके लिए तू है। या तत्=तस्मात्, त्वं=तू, असि=है अर्थात् उसीसे तू पैदा हुआ है। या तत्=तस्य, त्वं=तू, असि=है अर्थात् उसीका तू है। या तत्=तस्मिन्, त्वं=तू, असि=है अर्थात्—उसीमें तू है–ऐसा अर्थ हो सकता था। ऐसा होने पर यह प्रकरण केवल ईश्वरका गुण-कीर्तनमात्र हो जाता। इसका आत्म[illegible]ानसे कुछ भी संपर्क न रहता। इसीलिए यहां उद्दालकने

श्वेतकेतुको 'तत्त्वमसि' का उपदेश नहीं किया। अब उद्दाल
आठवें खण्डमें सुषुप्ति-अवस्थामें, जाग्रत्में और मरण-अवस्
सत्की स्थिति बताकर 'तत्त्वमसि' का उपदेश करेंगे–जिससे श्
केतुको 'मैं ही सत् हूँ' ऐसा बोध होगा ॥खण्ड ७॥

आठवां खण्ड

"उद्दालको हारुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमुवाच स्वप्नान्तं
सोम्य विजानीहीति यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य त
संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपित्याचक्षते
ह्यपीतो भवति" ॥१॥ उद्दालक नामसे प्रसिद्ध अरुणके पु
अपने पुत्र श्वेतकेतुसे कहा–हे सोम्य! तू मेरे द्वारा स्वप्न
(सुषुप्ति) को विशेषरूपसे समझले, जिस जिस अवस्थामें
पुरुष "सोता" ऐसा कहा जाता है, उस समय हे सोम्य! यह
से संपन्न हो जाता है=यह अपने स्वरूपको प्राप्त हो जाता है–इ
इसे "स्वपिति" ऐसा कहते हैं। क्योंकि यह स्व=अपनेको, अ
=प्राप्त होजाता है ॥१॥

शांकर भाष्य-"न हि अन्यत्र सुषुप्तात्स्वमपीतिं जीवस्ये
न्ति ब्रह्मविदः"=ब्रह्मवेत्ता लोग सुषुप्तावस्थाको छोड़कर
किसी दशा में जीवकी स्वरूपप्राप्ति स्वीकार नहीं करते।
भाष्यके अनुसार, ब्रह्मवेत्ता वे लोग हैं जो ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय
त्रिपुटी के अभाववाली सुषुप्तिको कैवल्यमुक्तिका अंश, दृष्टान्त
नमूना समझकर कैवल्य-प्राप्तिके लिए यत्न कर रहे हैं। प
जाग्रत्-स्वप्नमें "अहं ब्रह्मास्मि" ऐसा चिन्तन करनेवाले वे
भी अभी तक मनके सहित होने से स्वरूपको प्राप्त नहीं हुए।
अभी स्वरूपावस्थितिरूप कैवल्यमुक्तिके पथिकही हैं। "यत्र तु सु

स्वप्नान्पश्यति”—इत्यादि शांकर भाष्यका अनुवाद—किन्तु जिस अवस्था में सोया हुआ पुरुष स्वप्न देखता है, वह स्वप्नदर्शन सुख-दुःखसे युक्त होता है। इसलिए वह पुण्य—पापका कार्य है, क्योंकि पुण्य—पापको ही क्रमशः सुख-दुःखकी आरम्भकता प्रसिद्ध है। किन्तु पुण्य—पापको जो सुख-दुःख और उसके दर्शनरूप कार्यकी आरम्भकता है, वह अविद्या और कामनाके आश्रय से ही संभव है और किसी प्रकारसे नहीं। इसलिए स्वप्न, संसारके हेतुभूत, अविद्या, कामना और कर्म इनसे युक्त ही है। अतः उस अवस्था में जीव अपने स्वरूपको प्राप्त नहीं होता। जैसा कि (उस अवस्था में) वह पुण्यसे असंबद्ध, पापसे असंबद्ध तथा हृदयके सम्पूर्ण शोकोंको पार किये होता है” “इसका वह यह रूप अतिच्छन्दा (काम, धर्माधर्म और अविद्यासे रहित) है”।

इसप्रकार भाष्यने सुषुप्तिमें अविद्या, काम और कर्मका अभाव बताया है। स्मरण रहे कि सत् चित् आत्मामें जीवपनकी उपाधि अविद्या नहीं और ना ही विद्या ही है। किन्तु अव्यक्त कारणशरीर आनन्दमय कोष उपाधि है। अव्यक्तका ही कुछ स्थूल परिणाम बुद्धि अथवा मन है। बुद्धि या मनका जो “मैं अकर्त्ता अभोक्ता और असंग हूं” ऐसा परिणाम या वृत्ति है यह विद्या है, इसीका साथी आत्मा विद्वान् कहा जाता है। मनका जो “मैं कर्ता भोक्ता हूँ” ऐसा परिणाम है यह अविद्या है, इसीका साथी चैतन्य आत्मा अविद्वान् कहलाता है। “मैं इस कार्यके द्वारा ऐसा सुख-लाभ करूंगा” ऐसी अभिलाषाका नाम कामना है, फलकी प्राप्तिके लिए जो कार्य करना है वह कर्म है, ऐसे अविद्या, काम और कर्म सुषुप्तिमें नहीं। शां० भा० “जीवात्मना मनसि प्रविष्टा नामरूपव्याकरणाय परा देवता सा स्वमेवात्मानं

प्रतिपद्यते जीवरूपतां मन आख्यां हित्वा'' नामरूपको प्र करनेके लिए जीवरूपसे मन में प्रविष्ट हुआ परमात्मा वह नामक जीवरूपको त्यागकर अपने स्वरूपको प्राप्त हो जाता है इस भाष्यने मनको ही जीव माना है। वास्तवमें देखा जाए परिणामी स्वभाववाला मन ही जीव है। शां० भाष्य " मन प्रविष्टं मन-आदि संसर्गकृतं जीवरूपं परित्यज्य स्वं सद्रूपं यत्पा मार्थसत्यमपीतो=अपिगतो भवति"=मनमें प्रविष्ट हुआ परमात्म मन आदिके सम्बन्ध से किये हुए जीवरूपको त्यागकर अपना परमार्थ सत्य सद्रूप है उसे प्राप्त हो जाता है। इसप्रकार भाष्य सुषुप्तिमें जीवको अपने पारमार्थिक सत्य सद्रूपकी प्राप्ति बता है। जिसके लिए किसी भी प्रकारकी लक्षणावृत्तिके लिए अवका नहीं।

(ब्रह्म सूत्र अ० ३ पाद २ सूत्र ७) "तदभावो नाडी तच्छ्रुतेरात्मनि च।" शां० भा०'सत्प्राज्ञयोश्च प्रसिद्धमेव ब्रह्म त्वम्०' इत्यादिका अनुवाद–सतकी और प्राज्ञकी ब्रह्मता प्रसिद्ध है। इसप्रकार इन श्रुतियोंमें तीनों ही सुषुप्ति स्थान कहे गये नाड़ियां, पुरीतत और ब्रह्म। उनमें भी नाड़ियां और पुरीत द्वारमात्र हैं, किन्तु ब्रह्म ही एक सुषुप्ति-स्थान है। दूसरी बात है कि नाड़ियां और पुरीतत जीवकी उपाधिका ही आधार क्योंकि वहां जीवके करण विद्यमान हैं। उपाधिके संबन्ध बि स्वाभाविक ही जीवका कोई आश्रय संभव नहीं, ब्रह्मसे अभि अपनी महिमामें स्थित होनेके कारण। सुषुप्तिमें जीवका ब्रह्म आधारपन भी आधार-आधेयभावसे नहीं।

(प्रश्न)–तो कैसे है? (उत्तर)–अभिन्न रूपके अभिप्राय

क्योंकि ऐसा कहा है–हे सोम्य ! सुषुप्तिमें सन्रूपसे सम्पन्न होता है। 'स्व' शब्दसे अपना आत्मा कहा है, तात्पर्य यह कि स्वरूपको प्राप्त हुआ सुप्त कहलाता है।

इसप्रकार ब्रह्मवेत्ता व्यास जी ने भी सुषुप्तिमें जीवको स्वस्वरूप=सद्स्वरूपकी प्राप्ति "सता सोम्य तदा" श्रुतिके आधार पर बताई है।

पूर्वपक्ष–परमात्मा, सत् चित् आनन्दरूप है। जीवात्मा सत् चित्रूप है। यह सुषुप्तिमें उसके समीप हो जाता है। "सता सोम्य" श्रुतिका ऐसा अर्थ मानकर दो चैतन्य मान लेने चाहिए।

उत्तरपक्ष या सिद्धांत–ऐसा मानना श्रुतियोंके विरुद्ध तथा अनुभवके भी विपरीत है। १–श्रुतियों के विरुद्ध (मुं० उप० मुं. ३ खण्ड १ मंत्र १) "द्वा सुवर्णा०" इत्यादिसे एक साथ रहने वाले तथा परस्पर सख्यभाव रखनेवाले दो पक्षी लिंगशरीररूपी एक ही वृक्षका आश्रय लेकर रहते हैं, उन दोनोंमें एक (बुद्धिके सहित चैतन्यका आभास या केवल बुद्धिरूप) पक्षी (परिणामी स्वभाव होने से) उस वृक्षके शुभाशुभ कर्मोंके सुख-दुःखरूपी फलोंका भोक्ता है, और दूसरा चैतन्य आत्मा, अपरिणामी होनेसे भोक्ता न होकर केवल देखता है। इस मन्त्रसे, एक पक्षी परिणामी होनेसे जड़ है और दूसरा पक्षी अपरिणामी होनेसे चैतन्य है, किन्तु शरीर में दो चैतन्य नहीं।

(बृ० अ० ३ ब्रा० ७ श्रुति २३) "नान्योऽतोस्ति द्रष्टा" इत्यादि श्रुतिसे, द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, विज्ञाता और अन्तर्यामी एक ही चैतन्य है, दो नहीं।

(बृ० अ० ४ ब्रा० ३) "जनकं ह वैदेहं"–इत्यादि श्रुतियों से जाग्रत् अवस्थामें आदित्य, चन्द्रमा, अग्नि और वाणी ये

चार ज्योतियां बाहरकी हैं—जिनसे प्रकाश पाकर प्राणी कहीं जाता है और कहीं से आता है, इत्यादि व्यवहार करता है। "अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति" स्वप्न-अवस्थामें पुरुष स्वयं ज्योति या अपने प्रकाशसे ही सब काम करता है। इससे भी सिद्ध होता है कि शरीरमें चैतन्य आत्मा एक ही है, दो चैतन्य नहीं।

२-अनुभवके भी विपरीत है-(क) यदि सुपुप्तिमें जीवात्मा, ईश्वरके समीप हो जाता है तो अग्नि की सन्निधिमें लोहेके उष्ण प्रकाशके समान इसमें ईश्वरके सर्वज्ञता आदि धर्म आ जाने चाहिए। परन्तु उस अवस्थामें तो जीवमें अल्पज्ञान और अल्पशक्ति भी नहीं रहती। अतः उक्त मान्यता अनुभवके सर्वथा ही विपरीत है।

(ख) यदि ईश्वरभक्तको ही सुपुप्ति प्राप्त होती तब ऐसी मान्यता हो सकती थी, परन्तु सुपुप्ति अवस्था तो पशु, पक्षी, आस्तिक और नास्तिकोंकी समान ही है, अतः सुपुप्तिमें जीवको ईश्वरकी समीपताका कोई प्रसंग प्राप्त नहीं हो सकता।

(ग) जिस समय भी जिस किसी जीवको भय प्राप्त होता है तब बाहरकी ही वस्तुसे भय पहुंचता है, अन्दरसे नहीं। अतः शरीरमें एक चैतन्यके सिवा दूसरा कोई चैतन्य नहीं।

स्मरण रहे कि द्वैतवादी ईश्वरके भक्त लोग, एक शरीरमें जीव और ईश्वर नामके दो चैतन्य मानते हैं। परन्तु अद्वैतवादी लोग, शरीरमें एक ही चैतन्य स्वीकार करते हैं।

शंका-यदि "सता सोम्य" श्रुति के अनुसार, सुपुप्तिमें जीवात्माको शुद्ध ब्रह्म मान लेंगे तो इस श्रुतिका अन्य सभी श्रुतियोंसे विरोध होगा-जो सुपुप्तिको शुद्ध आत्माके तीसरे पाद प्राज्ञ नामक जीवका कारणशरीर या आनन्दमयकोश बता रही हैं।

समाधान-पंचदशी योगानन्द प्रकरण—

"आत्माभिमुखधीवृत्तौ स्वानन्दः प्रतिबिंबति ।
अनुभूयैनमत्रापि त्रिपुट्या श्रान्तिमाप्नुयात्" ॥४४॥

आत्माके सम्मुख हुई बुद्धिवृत्तिमें आत्माका प्रतिबिम्ब पड़ता है, इस अवस्थामें जीव विषयानन्दका अनुभव करके अनुभविता, अनुभव और अनुभाव्यरूप त्रिपुटीसे श्रमको प्राप्त हो जाता है ।४४।

स्मरण रहे कि यह सुपुप्तिकी आदि या आरम्भ अवस्था है, यही कारणशरीर या आनन्दमयकोश है । इसीका अभिमानी आत्मा प्राज्ञ कहलाता है ।

"तच्छ्रमस्यापनुत्यर्थं जीवो धावेत्परात्मनि ।
तेनैक्यं प्राप्य तत्रत्यो ब्रह्मानन्दः स्वयं भवेत्" ॥४५॥

उस त्रिपुटीरूपी श्रमकी निवृत्तिके लिए जीव परमात्माकी ओर दौड़ता है–उससे एकताको प्राप्त हो कर स्वयं ब्रह्मानन्द हो जाता है ॥४५॥

स्मरण रहे कि यह सुपुप्तिकी मध्य या गाढ़ अवस्था है, यह सच्चिदानन्द आत्मा की तुरीय या शुद्ध अवस्था है, कोई भी विद्वान् जब तक, "यह सुपुप्ति की आदि अवस्था है, यह मध्य है और यह अन्त है, इसप्रकार- सुपुप्तिका विभाग नहीं कर लेगा, तब तक वह "सता सोम्य" इस श्रुतिके आधार पर बनाये गये इन श्लोकोंका अर्थ सर्वथा ही नहीं लगा सकेगा । अतः सुपुप्तिकी आदि और अन्तिम अवस्थाएं आत्माका कारणशरीर है और मध्य अवस्था या गाढ़ अवस्था शुद्ध है । जो श्रुतियां सुपुप्तिको आत्माका कारण शरीर बता रही हैं, वे उसकी आदि और अन्त अवस्थाओंको लेकर ऐसा कथन करती हैं । और जो श्रुतियां सुपुप्ति में आत्माको शुद्ध बता रही हैं वे उसकी मध्य अवस्थाको

लेकर एकता कथन करती हैं। इस प्रकार श्रुतियोंका परस्पर विरोध नहीं।

"पितापि सुप्तावपितेत्यादौ जीवत्ववारणात्।
सुप्तौ ब्रह्मैव नो जीवः संसारित्वासमीक्षणात् ॥५६॥

(आत्मा) प्राज्ञ नामक जीवपनके निवृत्त हो जाने पर सुषुप्ति में ब्रह्म ही है, जीव नहीं। क्योंकि यहां आत्मामें संसारीपन नहीं देखा जाता ॥५६॥

(बृ० उप० अ० ४ ब्रा० ३ श्रुति २२) "अत्र पिता अपिता भवति" इसके आधार पर बना हुआ यह श्लोक भी सुषुप्तिकी मध्य अवस्थामें जीवको 'ब्रह्म ही है' ऐसा बता रहा है।

त्रयाभावे तु निर्द्वैतः पूर्ण एवाभिधीयते।
समाधि-सुप्ति-मूर्छासु पूर्णः सृष्टेः पुरा तथा ॥१६॥

जिसप्रकार (आत्मा) समाधि, सुषुप्ति और मूर्छा अवस्था में त्रिपुटीके अभाव होने पर द्वैतरहित और पूर्ण है—उसी प्रकार सृष्टिकी उत्पत्तिसे प्रथम यह द्वैतसे रहित पूर्ण था ॥१६॥

छांदोग्य अ० ६ खण्ड२ "सदेव" इस श्रुतिके आधार पर बनाया गया उक्त श्लोक भी सुषुप्तिकी और महाप्रलयकी मध्य अवस्थामें जीवको पूर्ण ब्रह्म बता रहा है। अतः श्रुतियोंमें परस्पर विरोध नहीं।

अन्य आशंका—सोकर जगा हुआ मनुष्य "सुखमहमस्वाप्सं न किंचिदवेदिषम्"=मैं सुखसे सोया, मैंने कुछ नहीं जाना—ऐसा स्मरण करता है। कारण कि उसने सुषुप्तिमें अज्ञानका अनुभव किया है, इसीसे 'वह कुछ नहीं जाना' ऐसा स्मरण करता है। जब कि सुषुप्तिमें अज्ञान रहता है, तब फिर अज्ञान विशिष्ट आत्मा शुद्ध नहीं माना जा सकता।

समाधान—१. यदि 'कुछ न जानना' ही अज्ञानका लक्षण कहेंगे तब तो ईंट-पत्थर-विशिष्ट सत् चित् आनन्द या अस्ति-भाति-प्रिय आत्माको भी अज्ञानी मानना चाहिए। क्योंकि वहां का आत्मा भी सुषुप्तिके आत्माके समान कुछ नहीं जानता, परन्तु उसे तो कोई भी व्यक्ति अज्ञानी नहीं मानता। अतः 'कुछ न जानना' अज्ञानका लक्षण नहीं हो सकता।

२—(ब्रह्म० अ० ४ पाद० ४ सूत्र १६) "स्वाप्ययसंपत्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि" श्रुतियोंमें ज्ञाता--ज्ञान—ज्ञेय त्रिपुटीरूप विशेषज्ञानका अभाव कहीं पर "स्वाप्यय" सुषुप्तिको लेकर कहा गया है और कहीं पर "संपत्ति" कैवल्यको लेकर कहा गया है। ज्ञाता नाम जानने वालेका है, ज्ञान नाम जाननेका साधन जो वृत्ति है उसका है, और ज्ञेय नाम जानने योग्य वस्तुका है। यही विशेषज्ञान है। यह सुषुप्तिमें और कैवल्यमुक्तिमें नहीं रहता।

३—यदि 'कुछ न जानने' को ही अज्ञान मानेंगे तब तो जब तक ज्ञानी मनुष्य जीता रहता है तबतक उसे सुषुप्ति अवश्य आती है, अतः वह जाग्रत्-स्वप्नमें ज्ञानी और सुषुप्तिमें अज्ञानी बना रहेगा और कैवल्यमें भी 'कुछ न जानना' रूप अज्ञानके सहित होनेसे वहां भी अज्ञानी ही होगा। परन्तु कैवल्यमें आत्माको कोई भी अज्ञानी नहीं मानता। ऐसे ही सुषुप्तिमें भी आत्मा अज्ञानके सहित नहीं। अतः "कुछ न जानना" अज्ञान नहीं कहला सकता। किन्तु बुद्धिके सहित ही आत्माकी ज्ञानी अज्ञानी संज्ञा होती है। यदि बुद्धिके होते हुए ही कोई व्यक्ति, किसी वस्तुको नहीं जानता तब अज्ञानी और यदि वह उस वस्तुको जानता है तब ज्ञानी कहा जाता है। इसीसे आचार्यों ने अज्ञान, आवरण, विक्षेप, परोक्षज्ञान, अपरोक्षज्ञान, शोकनाश और हर्ष

की प्राप्ति-ये सात अवस्थाएँ बुद्धिके सहित चैतन्यके आभा
या केवल बुद्धिकी मानी हैं।

१—अज्ञान=मैं ब्रह्म नहीं, २—आवरण=मुझे यह
ब्रह्मता भान नहीं होती, ३—विक्षेप=मैं कर्ता भोक्ता जीव
४—परोक्ष ज्ञान=वेद तो कहता है कि जीव ब्रह्म ही है,
जानना, ५—अपरोक्षज्ञान = सद्गुरुकी कृपासे मैं ब्र
ऐसा ज्ञान हो जाना, ६—शोकनाश=अब मुझे कुछ क
नहीं, ७—हर्षकी प्राप्ति=मैं कृतकृत्य या कृतार्थ हुआ हूं। ये
अवस्थाएँ परिणामशीला बुद्धिकी हैं, चैतन्य आत्माकी नहीं।
यह स्पष्ट हो गया कि सुषुप्तिमें बुद्धिके अभावसे न तो आ
अज्ञानके सहित है और न ज्ञान के ही; किन्तु अपने शुद्ध स
से ही स्थित होता है।

(बृ० अ० ४ ब्रा० ३ श्रुति ६) "तस्य वा एतस्य" इत
श्रुति पर शांकर भाष्य—"नैष दोषः विषयभूतमेव"=यह
दोष नहीं। क्योंकि वह मात्रा (विषय-वेदना-संयुक्त) तो वि
भूता ही होती है, इसीलिए यहां यह पुरुष (आत्मा) "स्वयंज्यो
स्वरूपसे दिखाया जा सकता है। नहीं तो सुषुप्तावस्थाके स
जब कि कोई भी विषय नहीं रहता, इस "स्वयंज्योति" का
नहीं कराया जा सकता। इस भाष्यने स्पष्ट कर दिया है
सुषुप्ति अवस्थामें अज्ञान आदि किसी भी विषयके न रहने
आत्मा "स्वयं ज्योति" नहीं हो सकता। अतः सुषुप्तिमें अ
नामकी कोई वस्तु नहीं।

शंका—यदि सुषुप्तिमें अज्ञान नहीं रहता तो आचा
उसको वहां सिद्ध करने के लिए "मैं सुख से सोया, मैंने
नहीं जाना" ऐसी युक्ति किसलिए दी है?

समाधान–यह युक्ति केवल शून्यवादके खण्डनार्थ दी गई है, कि अज्ञान या शून्यका साक्षी आत्मा वहां स्थित है। परन्तु यह युक्ति, श्रुतिसम्मत नहीं।

(बृ० अ० ४ ब्रा० ३ श्रुति ३०) "यद्वै तन्न विजानाति विजानन्वै तन्न विजानाति न हि विज्ञातुर्विज्ञाते विपरिलोपो विद्यते ऽ विनाशित्वान्न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्विजानीयात्" =

वह जो नहीं जानता सो जानता हुआ ही नहीं जानता, विज्ञाता की विज्ञाति (विज्ञानशक्ति) का सर्वथा लोप नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है। उस अवस्थामें उससे भिन्न कोई दूसरा पदार्थ नहीं, जिसे वह विशेषरूपसे जाने। ३०।

शंका–श्रुति कहती है कि वहां द्वैत या दूसरा नहीं। परन्तु जय कि वहां आत्माके साथ प्राण, स्थूल-शरीर, पलंग, भूमि और आकाश आदि अन्यान्य वस्तुएं भी विद्यमान हैं तो फिर "वहां दूसरा नहीं" ऐसा कहना असंगत है।

समाधान–श्रुति यहां द्वैत शब्दसे मनको ग्रहण करती है। क्योंकि ज्ञानस्वरूप आत्मामें विशेष ज्ञानका कारण मन ही है; वह सुषुप्तिमें नहीं। अतः आत्मा, ज्ञानस्वरूप होने पर भी मनके अभावमें जानता हुआ भी नहीं जानता-ऐसा श्रुतिको अभीष्ट है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तब तो कैवल्यमें भी मुक्तात्माके साथ आकाश आदि पांच भूतोंका संबन्ध बना ही रहता है। अतः कैवल्यमें भी आत्माको द्वैतविशिष्ट ही मानना होगा। परन्तु वह वहां जैसे आकाश आदि भूतों के सहित होने पर भी केवल मन या बुद्धिके अभाव से शुद्ध ब्रह्म माना गया है। ऐसे ही सुषुप्तिमें भी वह प्राण आदिके सहित होने पर भी केवल मनके

अभावमें शुद्ध ब्रह्म ही है ।

(बृ० अ० ४ ब्रा०३ श्रुति ३२) "सलिल एको द्रष्टाद्वैं भवति-एष ब्रह्मलोकः सम्राडिति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्य एषास्य परमागतिरेषास्य परमा संपदेषोस्य परमो लोक एषोस्यपरम आन न्दः एतस्यैवानन्दस्य-अन्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति"-जैसे ज में वैसे ही सुषुप्तिमें एक अद्वैत द्रष्टा है । हे सम्राट् ! यह ब्रह्मलो है-ऐसा याज्ञवल्क्यने जनकको उपदेश दिया । यह इस (पुरुष) परम गति है, यह इसकी परम सम्पत्ति है, यह इसका परम लो है, यह इसका परमानन्द है । इस आनन्दकी मात्राके आश्रित अन्य प्राणी जीवनधारण करते हैं ।।३२।।

इस श्रुतिका अर्थ शांकर भाष्यके अनुसार ऐसा है—जैं स्वच्छ जलमें छोड़ा हुआ स्वच्छ जल एक हो जाता है । वैसे सुषुप्तिमें मन-सहित आभास, चैतन्य आत्मामें लीन हो जाने आत्मा, शुद्ध तथा एक होता है । क्योंकि वहां आत्माकी दृ शक्तिका लोप नहीं होता, अतः वह द्रष्टा है । कारण कि वह द्रष्टव्य वस्तुका अभाव है, इसीसे वह अद्वैत होता है । यहीं ब्रह्मलोक है यानी आत्मा की ब्रह्म-अवस्था है, ऐसा राजा जनक से याज्ञवल्क्यने कहा-यही आत्माकी परम गति है या सबसे की गति है । क्योंकि जाग्रत् स्वप्नमें मनके सम्बन्धसे होने वाले जितनी भी हिरण्यगर्भ तक गतियां हैं वे इससे तुच्छ हैं । अत यह परमगति है । आत्माकी यही अवस्था परम संपदा है या सबसे बड़ी सम्पत्ति है, क्योंकि जाग्रत स्वप्नमें मनके सम्बन्धसे होने वाली जितनी भी सम्पत्तियां हैं वे अपरम या छोटी हैं, अतः परमा है । आत्माकी मनके सम्बन्धसे रहित यही=सुषुप्ति-अवस्था ही परमलोक है । क्योंकि मनके सम्बन्धसे होनेवाले ब्रह्मलो

तक जितने भी लोक हैं, वे अपरम या इससे इसी ओर के है। अतः आत्माका यही परमलोक है। आत्माका सुषुप्तस्थान ही परम आनन्द है, या सबसे उत्कृष्ट आनन्द है, ब्रह्मा-पर्यन्त जितने भी प्राणधारी हैं, वे इसी परमानन्दके अंशको लेकर आनन्दवाले होते हैं। तात्पर्य यह है कि ज्यों-ज्यों मन अन्तर्मुख होता जाता है, इसमें आनन्दकी मात्रा अधिक होने लगती है, और ज्यों-ज्यों यह वहिर्मुख होता जाता है, त्यों-त्यों इसमें आनन्द की मात्रा कम होने लगती है। परन्तु मनकी जो अत्यन्त लीन अवस्था है, वहां आत्माका परमानन्दरूप होता है।

स्मरण रहे कि मनसे रहित आत्मा की ऐसी निर्गुण, निर्विकार और निर्विकल्प अवस्थाको कोई शून्य और कोई जड़ मानता है। परन्तु उक्त श्रुति तो उस अवस्थामें आत्मा को परमानन्दरूप मान रही है। "यद्वै तन्न विजानाति" यह श्रुति सुषुप्तिमें आत्माका चित्रूप स्पष्ट करती है। "सता सोम्य" श्रुतिने सुषुप्तिमें आत्माकी सत्रूपसे स्थिति बताई है ॥१॥

इसमें दृष्टांतके लिए अब दूसरी श्रुतिको पढ़ना चाहिए। "यथा शकुनिः सूत्रेण"…जिस प्रकार डोरीसे बँधा हुआ पक्षी दस दिशाओंमें उड़ कर अन्यत्र स्थान न मिलने पर अपने बन्धन स्थानका ही आश्रय लेता है, उसी प्रकार निश्चय ही सोम्य! यह मन (जाग्रत् स्वप्नरूपी) दिशा-विदिशाओंमें भ्रमण कर अन्यत्र स्थान न मिलने पर प्राणका ही आश्रय लेता है। क्योंकि सोम्य! मन प्राणरूप बंधनवाला है, अर्थात् इसका सत् ही आश्रय है।२।

आगे की श्रुतियोंका संक्षिप्त अर्थ—सोम्य! तू मेरे द्वारा भूख और प्यास को जान। जिस समय यह पुरुष कुछ खाता है उस समय जल ही इसके भक्षण किये हुए अन्नको ले जाता है।

हे सोम्य ! उस जलसे ही शरीरको उत्पन्न हुआ जान। यह बिना कारणके नहीं होता। अन्नको छोड़कर इसका और कहां हो सकता है ? इसीप्रकार सोम्य ! तू अन्नरूप द्वारा जलरूप मूलको खोज। हे सोम्य ! जलरूप अंकुर तेजोरूप मूलको जान। तथा तेजोरूप अंकुरके द्वारा सद्रूप का अनुसंधान कर। सोम्य ! इसप्रकार यह उक्त सभी प्रजाएँ मूलक हैं, तथा इसका सत् ही आश्रय है, और सत् ही प्रति लयस्थान है ॥३।४॥

जिस समय यह पुरुष पीता है तो इसके पान किये जलको तेज ही ले जाता है। हे सोम्य ! उस जलरूप मूल शरीररूप अंकुर उत्पन्न होता है-ऐसा जान। क्योंकि यह मूल नहीं हो सकता ॥५॥

सोम्य ! उस शरीरका जलके बिना और मूल नहीं। अंकुर द्वारा तू तेजोरूप मूलको जान। और तेजोरूप अंकुर सद्रूप मूलकी शोध कर। हे सोम्य ! इस सम्पूर्ण प्रजाका कारण है तथा सत् ही स्थिति-स्थान है और सत् ही लय-स्थान सोम्य ! पृथ्वी, जल और तेज इन तीनों भूतोंका त्रिवृत्त पहले ही कहा जा चुका है। हे सोम्य ! मरणको प्राप्त होते इस पुरुषकी वाणी मनमें लीन हो जाती है तथा मन प्राण तेजमें और तेज परदेवतामें लीन हो जाता है ॥६॥

"स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स तत्त्वमसि श्वेतकेतो भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति सोम्येति होवाच" ॥७॥

वह जो यह अणिमा है, इसीका रूप यह वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो ! वही

श्वेतकेतुने कहा मुझे फिर समझाइए। आरुणिने कहा अच्छा सोम्य ॥खण्ड ८॥

भावार्थ—इस आठवें खण्डमें सत्की सुषुप्ति, जाग्रत् और मरण-ये तीन अवस्थाएँ दिखाई गई हैं। आगे के सभी खण्डोंमें इन्हीं तीन अवस्थाओंका दृष्टांत-पूर्वक विस्तृत वर्णन किया गया है। "तत्त्वमसि" यह वाक्य इन्हीं तीन अवस्थाओंसे संबन्ध रखता है। अतः इन्हीं अवस्थाओंके अनुसार इस वाक्यका अर्थ करना ठीक है। परन्तु इस खण्डमें सत् की सुषुप्ति, जाग्रत् और मरण-ये तीन अवस्थाएँ दिखाकर "तत्त्वमसि" वाक्यका साधारणतः उपदेश किया गया है। अब श्वेतकेतु इन अवस्थाओंको विशेषरूपसे जानना चाहता है और इनसे सम्बन्ध रखनेवाले "तत्त्वमसि" वाक्य को भी। पहले सुषुप्ति अवस्थाको लेकर उसे सन्देह हुआ है—यदि सुषुप्तिमें पुरुष "सता" सद्रूप हो जाता है तो यह वहां जानता क्यों नहीं कि मैं सद्रूप हो गया हूँ ? ऐसी शंकासे श्वेतकेतु कहता है—मुझे फिर समझाइए। उद्दालकने कहा—हे सोम्य ! अच्छी बात है ॥ खण्ड ॥८॥

नवां खण्ड

"यथा सोम्य मधु"—इत्यादि चार श्रुतियोंका संक्षेपमें अनुवाद—हे सोम्य ! जैसे नाना वृक्षोंके रस मधुरूप होकर अपने २ पहलेके नामोंको और रूपोंको भूल जाते हैं, ऐसे ही यह सम्पूर्ण बाघ, सिंह आदि प्रजागण सुषुप्तिमें सद्रूपहोकर यह नहीं जानते कि हम सद्रूप हो गये हैं। वे इस लोकमें बाघ, सिंह, भेड़िया, सूकर, कीट पतंग, डांस, अथवा मच्छर जो जो भी सुषुप्ति अवस्थाके पहले होते हैं, वे ही पुनः जाग्रत्में हो जाते हैं। वह जो यह अणिमा है, इसीका रूप यह सब है,

वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो 'वही तू है'। श्वेत केतुने कहा—मुझे फिर समझाइए। आरुणिने कहा—सोम्य अच्छा ॥खण्ड ६॥

भावार्थ—शहद बनानेवाली मक्खियोंने अनेक वृक्षों रस लाकर इकट्ठा कर दिया और वह शहद हो गया। परन्तु इस अवस्थामें वे रस शहदमें न तो विशेषण-विशेष्य-भावसे रहते हैं और न वे व्याप्य-व्यापक-भावसे और न वे आधार-आधेय भावसे रहते हैं। केवल एक शहद ही उनका रूप है। अतः वे वहां यह नहीं जानते कि हम शहदरूप हो गये हैं। उसी प्रकार बाघ, सिंह आदि सभी जीव, सुषुप्तिके सत्में मनके लीन हो जाने पर, न तो वे वहां विशेषण-विशेष्य भावसे रहते हैं और न व्याप्य-व्यापक भावसे तथा ना हीं आधार-आधेय भावसे रहते हैं। उनका केवल निर्द्वैत एक सद्रूप ही रूप है। अतः वे वहां ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयरूपी विशेषज्ञानका अभाव होनेसे यह नहीं जानते कि हम सद्रूप हो गये हैं। सुषुप्ति से उठ कर ही जानते हैं कि मैं बाघ हूँ अथवा सिंह हूँ, इत्यादि।

"स य एषोऽणिमा"—इत्यादि चौथी श्रुतिका भावार्थ—सुषुप्तिमें मनसे रहित जो अकर्ता, अभोक्ता, निर्विकार, शुद्ध, सत् था, वह, सुषुप्तिके अन्तमें मनके सहित होकर जाग्रत्में 'मैं' नाम वाला कर्ता, भोक्ता जीव हो गया, इसीका रूप यह सब तेज, जल, पृथ्वी और इनसे बना हुआ शरीररूपी कार्य है, परन्तु सुषुप्तिका अकर्ता, अभोक्ता, निर्विकार, निराकार सत् ही सत्य है, वही अपना स्वरूप है, हे श्वेतकेतो ! वह तू है। अर्थात् "तू मनके लीन अवस्थामें 'वह' निर्विकार, निराकार शुद्ध सद् ब्रह्म है" सुषुप्ति अवस्थाको लेकर 'तत्त्वमसि' अथवा—

'तत् त्वं असि' का 'त्वं तत् असि' इसप्रकार पदोंको उलटाकर अर्थ करना ठीक है। अर्थात् 'वह तू है' इसकी जगह 'तू वह है' ऐसा पाठ बदलकर अर्थ करना योग्य है। क्योंकि सुषुप्तिमें त्वं नामक जीव, तत् हो जाता है यानी 'तू' से 'वह' हो जाता है।

(१)जैसे नामरूपात्मक घटके सहित मृत्तिकारूपी 'त्वं'का 'वह' रूप, शुद्ध मृत्तिका होगी, (२)जैसे नामरूपात्मक कंगनके सहित स्वर्णरूपी 'त्वं' का 'वह' रूप शुद्ध स्वर्ण होगा और (३) जैसे लोहेके बने हुए किसी बासनके सहित लोहरूपी 'त्वं' का 'वह' रूप शुद्ध लोहा होगा। अर्थात् घड़ेको 'तू वह है' ऐसा कहेंगे तो घड़ेका 'वह' रूप शुद्ध मिट्टी है, कंगनको 'तू वह है' ऐसा कहेंगे तो उसका 'वह' रूप केवल सोना होगा। और चिमटे को 'तू वह है' ऐसा कहेंगे तो उसका 'वह' रूप शुद्ध लोहा ही तो है।

इसीप्रकार जाग्रत्में मनके सहित सत्रूपी त्वंका सुषुप्तिमें मनसे रहित तत्-रूप केवल शुद्ध सच्चिदानन्द है। अर्थात् मनके सहित सच्चिदानन्द को 'तू वह है' ऐसा उपदेश होनेसे उसका 'वह' रूप शुद्ध सच्चिदानन्द है। तात्पर्य यह है कि मनसे रहित अवस्थामें 'तू' निर्गुण निर्विकार निश्चल शुद्ध ब्रह्म है। इसप्रकार सुषुप्ति अवस्थाको लेकर 'तत् त्वं असि' यानी 'वह तु है' इसके स्थानमें 'त्वं तत् असि' यानी 'तू वह है' ऐसा अर्थ किया गया है।

अब श्वेतकेतु यह जानना चाहता है कि यदि कोई जीव, सुषुप्तिमें अपनी सद्रूपसे स्थिति नहीं जानता तो जागकर जानना चहिए कि 'मैं सत् से आया हूँ'। इसीसे उसने कहा कि मुझे फिर समझाइए। उद्दालकने कहा—हे सोम्य ! अच्छा ॥ खण्ड ६ ॥

—

दसवाँ खण्ड

"इमाः सोम्य नद्यः"—इत्यादि तीन श्रुतियोंका संक्षिप्त अनुवाद—हे सोम्य ! जैसे नदियां समुद्रसे उत्पन्न होकर फिर समुद्रमें मिल जाती हैं। वे सब समुद्रमें यह नहीं जानतीं कि 'यह मैं हूँ' और 'यह मैं हूं'। ऐसे ही ये सब बाघ, सिंह आदि प्रजाएं सत्से आने पर यह नहीं जानतीं कि हम सत्से आई हैं। वे इस लोकमें बाघ, सिंह आदि जो भी सुषुप्ति से पहले होते हैं वे ही फिर जाग्रत् में हो जाते हैं। वह जो यह अणिमा है, इसीका रूप यह सब है, वह सत्य है, वह आत्मा है, हे श्वेतकेतो ! 'वही तू है'।

श्वेतकेतुने कहा- मुझे फिर समझाइए। आरुणिने कहा- सोम्य ! अच्छा। खण्ड १० ॥

भावार्थ—समुद्रके अंशरूप कुछ जलने बादलों द्वारा बरसाया जाने से गंगा आदि नामों तथा उनके सफेद आदि रूपोंको धारण कर लिया, परन्तु वे गंगा आदि नदियां इससे पहले, समुद्रमें किसी प्रकारकी विशेषतावाली नहीं थीं। केवल निर्विशेष निर्द्वैत एक समुद्र ही थीं। अतः इन्हें वहां अपनी स्थितिका कुछ भी अनुभव नहीं था। इसीसे वे वहांसे आकर यह नहीं जानतीं कि हम समुद्रमें से आई हैं। उसी प्रकार सुषुप्तिका जो सत्-रूपी समुद्र है उसके अंशरूप कुछ सत् ने सुषुप्तिके अन्तमें और स्वप्नसे पहले मनोंके सहित होकर प्राज्ञ, तैजस और विश्व संज्ञक देव, दानव, मानव, सिंह, बाघ आदि नामोंको तथा सफेद, गोरे, काले आदि रूपोंको जाग्रत्में ग्रहण कर लिया। परन्तु सुषुप्तिमें ये केवल निर्विशेष निर्द्वैत एक सत्-मात्र रूपमें थे। जाग्रत्में जो पिता है वह सुषुप्तिमें पिता नहीं रहता, माता, माता नहीं रहती, ज्ञानी

ज्ञानी नहीं रहता, अज्ञानी, अज्ञानी नहीं रहता, साधु, साधु नहीं रहता। वहां वेद, अवेद हो जाते हैं, वहां लोक, अलोक हो जाते हैं, अर्थात् जाग्रत्में जो चाण्डाल और महापापी भी हैं वे भी वहां चाण्डाल आदि नहीं रहते। 'मैं ब्राह्मण आदि हूँ' ऐसी अविद्या, 'मैं उस भोग को प्राप्त करूंगा' ऐसा काम और 'मैं उसकी प्राप्तिके लिए यह कर्म करता हूँ'—ऐसा कर्म, ये अविद्या, काम और कर्म सुषुप्तिमें नहीं रहते। वहां प्रपंचका उपशम हो गया है। वहां का सत् वाणीका विषय न होनेसे अव्यपदेश्य या अकथनीय है। मन के गोचर न होनेसे वह अचिन्त्य है। इसीसे वहांके सत्का किसी को अनुभव नहीं होता। इसीसे ये यह नहीं जानते कि हम सत् से आये हैं। सुषुप्तिके पहले यानी जाग्रत्में जो जो भी इनका बाघ आदि नाम होता है और जैसी जैसी भी इन जीवोंकी धारणा होती है, सुषुप्तिके अनन्तर जाग्रत्-अवस्थामें इनका वही वही बाघ आदि नाम हो जाता है और वही वही धारणा हो जाती है। मनुष्योंमें से कोई कहता है कि मैं अज्ञानी हूँ, और कोई ब्रह्मज्ञानी, कोई अपनेको बद्ध तो कोई अपनेको मुक्त मानने लगता है। अर्थात् ब्राह्मण आदि चारों वर्ण, ब्रह्मचर्य आदि चारों आश्रम, और भी शैव, वैष्णव, जैन, बौद्ध, जो भी प्रपंच है वह सारा जाग्रत्में ही है, सुषुप्ति में नहीं।

"स य एषोऽणिमा"—इत्यादि तीसरी श्रुतिका भावार्थ—गाढ़ नींदमें जो उपाधिरहित अकथनीय सत् था वह उसके अन्तमें मनके सहित जाग्रत्-अवस्थाको प्राप्त हो कर 'मैं' नामवाला जीव हो गया। इसीका रूप यह सब तेज, जल, पृथ्वी और इनसे बना हुआ शरीररूपी कार्य है, परन्तु मनसे रहित ही सत् सत्य है, वही अपना स्वरूप है, हे श्वेतकेतो! वही तू है। इस वाक्यको भी "

वह है" ऐसा बदलकर अर्थ करना चाहिए। क्योंकि यह जी गाढ़ नींद में 'तू' से 'वह' हो जाता है। यदि किसी अन्य के समझाना हो तब तो "तू वह है" ऐसा इस वाक्यका अ होगा। यदि अपनेको समझाना है तब "मैं वही हूँ" इस वाक का ऐसा अर्थ करना उचित है। क्योंकि सुषुप्ति-अवस्था, प्राणधारी मात्र की है, किसी एक मुख्य व्यक्ति की नहीं।

सुषुप्ति में आत्माकी शुद्धरूपसे स्थिति—

(बृ० अ० २ ब्रा० १ श्रु १७) 'स होवाचाजातशत्रु'-इस पर के शांकर भाष्यका अनुवाद-"य एषोऽन्तर्मध्ये"= यह हृदयान्तर्गत=हृदय के मध्य में आकाश है, जो आकाश शब्द अपना परम आत्मा ही कहा गया है, उस स्वाभाविक असांसारिक स्वात्माकाश में ही शयन करता है। "हे सोम्य ! उस सम यह सत्को ही प्राप्त होजाता है" इस अन्य श्रुतिके प्रामाण्यसे केवल भूताकाश में ही शयन नहीं करता। तात्पर्य यह है कि लिंगोपाधि संबन्धसे होनेवाले अपने विशेपरूपको त्यागकर स्वाभावि अविशेष शुद्ध आत्मामें ही विद्यमान रहता है।

सुषुप्ति की विशेषता

१—कैवल्यको प्राप्त हुआ कोई भी जीव वहांसे लौट नहीं, अतः वह वहां अपनी जो सद्रूपसे स्थिति है, उस वर्णन नहीं कर सकता।

२—मरणमें तथा महाप्रलयमें अपनी जो सद्रूपसे स्थि है, वह केवल आगम-प्रमाणजनित है, किन्तु अनुभूत नहीं अतः ये दोनों अवस्थाएं भी कैवल्यमें प्रवृत्त होनेके लिए दृ नहीं हो सकतीं।

३—समाधि सबके मतमें एक जैसी नहीं, अतः यह भी कैवल्यमें प्रवृत्तिके लिए कारण नहीं बन सकती।

४—(बृ० अ० ४ ब्रा० ३ श्रुति ३३) "स यो मनुष्याणां" इत्यादि श्रुति पर शांकर भाष्य—'तस्मात्संप्रसादस्थानं मोक्षदृष्टांत-भूतम्'=अतः सुषुप्तिस्थान ही मोक्षका दृष्टांतभूत है। परिशेषतः उक्त भाष्यके अनुसार केवल सुषुप्ति अवस्था ही कैवल्यमें प्रवृत्त करानेके लिए दृष्टांत बन सकती है। क्योंकि सुषुप्तिमें मनके सत्में लीन हो जानेसे बाघ, सिंह आदि हिंसक जीव भी बिना किसी विवेक आदि साधन-सम्पत्तिके सद्ब्रह्म हो जाते हैं। तब फिर मैं तो मनुष्य होनेसे कर्मयोनि हूँ। क्यों न मैं अपने मनको सत्में सर्वथा लीन करके संसारसे सदाके लिए मुक्त हो जाऊँ। ऐसा विचार करके मनुष्य कैवल्यमें प्रवृत्त हो सकता है। अतः कैवल्य के लिए केवल सुषुप्ति अवस्था ही दृष्टांत बन सकती है। इसीसे उपनिषदोंमें सुषुप्ति को बहुत महत्त्व दिया गया है।

सुषुप्तिके अनन्तर अब श्वेतकेतु जाग्रत् के सत्का स्वरूप जानना चाहता है। क्योंकि आठवें खण्डमें उद्दालकने कहा है कि जब यह पुरुष खाता और पीता है, तब यह शरीररूपी कार्य उत्पन्न होता है। इस शरीररूपी कार्यका मूल अन्न है, अन्नका मूल जल, जलका कारण तेज और तेज का मूल सत् है। इन सबका सत ही उत्पत्ति, स्थिति तथा लय स्थान है। ऐसा सुनकर श्वेतकेतुको यह शंका हुई कि यदि सत् का इस शरीरमें निवास है तो शरीर-नाशसे उसका नाश क्यों नहीं हो जाता? ऐसी शंकाको लेकर वह कहता है—मुझे फिर समझाइए। यह सुनकर उद्दालकने कहा—अच्छी बात है। समाधान कहता हूँ।

इस पर का शांकर भाष्य इसप्रकार है 'दृष्टं लोके'—(श्वेत-

केतु बोला) लोकमें यह देखा गया है कि जलमें उठे हुए भंवर, तरंग, फेन एवं बुद्-बुद् आदि पुनः जलरूप हो जाने पर नष्ट हो जाते हैं। किन्तु जीव तो प्रतिदिन सुषुप्तावस्थामें मरण और प्रलयके समय अपने कारणभावको प्राप्त होकर भी नष्ट नहीं होते सो हे भगवन्! इस बातको मुझे दृष्टांत द्वारा फिर समझाइए। तब पिताने कहा--सोम्य! अच्छा ॥खण्ड १०॥

ग्यारहवां खण्ड

"अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य"---इत्यादि तीन श्रुतियोंका संक्षेपमें अनुवाद—हे सोम्य! किसीके द्वारा वृक्षको खण्ड खण्ड कर काट देने पर भी वह जीवात्मा के सहित हरा-भरा बना रहता है, किन्तु जीवात्मासे त्यागा हुआ वह सारा ही सूख जाता है। ऐसे ही जीवसे त्यागा गया यह शरीर ही मरता है किन्तु जीव नहीं मरता। वह जो यह अणिमा है, इसीका रूप यह सब है, वह सत्य है, वह आत्मा है, हे श्वेतकेतो! 'वह तू है' श्वेतकेतुने कहा मुझे फिर समझाइए। आरुणिने कहा—सोम्य! अच्छा ॥खण्ड ११॥

भावार्थ—व्यापक सत्में कर्ता-भोक्तारूपी जीवपनकी उपाधि मन है। यह मनुष्य-योनिमें शुभाशुभ कर्म करके उसका फल भोगने के लिए किसी स्थावर या जंगम शरीरको ग्रहण करता है। जब तक कर्मोंका भोग है, तब तक उसके अनेक विकारों को धारण करके भी वहां टिका रहता है। कर्म-भोग समाप्त होने पर वहांसे चल देता है। इसीलिए इस जीवसे त्यागा हुआ यह शरीर ही मरता है, किन्तु जीव नहीं मरता। यानी शरीरनाशसे सत् का नाश नहीं होता। "स य एषोऽणिमा"—गाढ़ सुषुप्तिमें मन रहित जो अकर्ता, अभोक्ता, निर्विकार, शुद्ध, सत् था, वह सूक्ष्म

के अन्तमें मनके सहित होकर जाग्रत्में 'मैं' नामवाला कर्ता-भोक्ता जीव बन गया, यह अणिमा है, इसीका रूप, यह सब तेज जल और पृथ्वीसे बना हुआ शरीररूपी कार्य है, परन्तु सुषुप्तिका अकर्ता, अभोक्ता, निर्विशेष सत् ही सत्य है, वही अपना स्वरूप होनेसे आत्मा है, हे श्वेतकेतो ! 'वह तू है'।

तात्पर्य यह कि जाग्रत् अवस्थाको लेकर "तत्त्वमसि"=तत् त्वं असिका 'वह तू है' ऐसा अर्थ बनता है। क्योंकि जाग्रत्में यह 'तू' रूपी जीवात्मा 'वह' से यानी निर्गुण शुद्ध सत् रूपसे मनके सहित होकर 'तू' बन गया है। परन्तु 'तत्' नामक सत् का मनके सहित त्वं नाम (तू रूप) सत्य नहीं। "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" इस श्रुतिसे जिस प्रकार मृत्तिकाका विकार घट आदि कार्य, वाणी पर अवलंबित नाममात्र है, सत्य केवल मृत्तिका है। इसीप्रकार, सत्का विवर्त या विकार मनके सहित, प्राज्ञ तैजस और विश्वरूप कार्य, वाणी पर अवलंबित कथनमात्र है, सत्य तो केवल सत् ही है। इसप्रकार जाग्रत् अवस्थाको लेकर "तत्त्वमसि"='वह तू है' का 'वह ही तू' हुआ है, ऐसा अर्थ करके जाग्रत्में तत् नामक सत्का 'त्वं' नाम 'तू' रूप विकारी और असत्य दिखाया गया है। जाग्रत्के ग्रहणसे कारण, सूक्ष्म और स्थूल-इन तीन शरीरोंका ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि आठवें खण्डमें "यत्रैतत्पुरुषोऽशिशिषति" "यत्रैतत्पुरुषः पिपासति"=जब यह पुरुष खाता और पीता है; तब यह शरीररूपी कार्य बनता है। इन सबका मूल 'सत्' ही है, ऐसा कहा है। खाना-पीना जाग्रत्में ही होता है और पुण्य-पापका कर्ता तथा उसके फलका भोक्ता भी मनुष्य वस्तुतः जाग्रत्में ही होता है। इसीलिए जाग्रत्के ग्रहणसे तीन शरीरोंका ग्रहण करना ठीक ही

है। तथा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओंको प्र
करना चाहिए। परन्तु सुषुप्तिकी आदि और अन्तिम अवस्था
को ग्रहण करना चाहिए, मध्यको नहीं। अन्यथा सुषुप्तिमें स
निर्विकार शुद्धरूपसे स्थिति कहने वाली "सता सोम्य" श्रुति
खण्डन हो जाएगा। अस्तु।

इसप्रकार 'तत्त्वमसि' वाक्यने सुषुप्तिमें मनसे र
सत्का निर्विकार शुद्ध 'वह' रूप दिखा दिया। और जाग्रत् में म
सहित उसी सत्का 'वाचारम्भणमात्र विकारी असत्य 'तू'
दिखाया है। क्योंकि ऐसा विकारी 'तू' रूप दिखाना भी प्र
के अनुसार ठीक ही है। ऐसा जानने से ही जीव, शुद्ध स
ओर जा सकता है।

पहले ऐसा कहा जा चुका है कि शरीर ही मरता है, कि
जीव नहीं मरता। यहां श्वेतकेतुको ऐसी शंका हुई कि ऐसा
अतिसूक्ष्म सत् है, उससे इतना बड़ा शरीर कैसे बन सकता है
ऐसी शंकाको लेकर वह कहता है कि मुझे फिर समझाइए।
इस शंकाके समाधानार्थ उद्दालक कहता है। अच्छा बतला
हूं ॥खण्ड ११॥

बारहवां खण्ड

"न्यग्रोधफलमत"—इत्यादि तीन श्रुतियोंका संक्षिप्त अर्थ—

हे सोम्य ! वट-वृक्षसे एक फल तोड़ ला और उसे
डाल। श्वेतकेतुके ऐसा करने पर आरुणिने पूछा—इसमें
देखता है ? उसने कहा—अणुके समान दाने हैं। आरुणिने
इनमें से एक को फोड़ डाल। श्वेतकेतुके ऐसा करने पर आरुणि
पूछा—इसमें क्या देखता है ? श्वेतकेतुने कहा—कुछ नहीं, तब
आरुणिने कहा। हे सोम्य ! इस वट-बीजकी जिस अणिमा

नहीं देखता–उस अणिमाका ही यह इतना बड़ा वट-वृक्ष खड़ा हुआ है। हे सोम्य! तू इस कथनमें श्रद्धा कर। वह जो यह अणिमा है, इसीका रूप यह सब है, वह सत्य है। वह आत्मा है, और हे श्वेतकेतो! 'वही तू है'। श्वेतकेतुने कहा—मुझे फिर समझाइए। आरुणिने कहा—सोम्य! अच्छा ॥खण्ड १२॥

भावार्थ—जिसप्रकार निर्विशेप, एक, शुद्ध वड़का अति-सूक्ष्म बीज था–उसीका स्कन्ध, शाखा, उपशाखा, पत्र, पुष्प, एवं फलसे युक्त यह बड़का वृक्ष बन गया। उसीप्रकार गाढ़ सुपुप्तिका मनसे रहित जो निर्विशेप, निरवयव एक एवं शुद्ध सत् था, उसी का मनके सहित यह कारण, सूक्ष्म और स्थूल शरीरसे युक्त 'तू' नामवाला जंगम और स्थावर जीव बना हुआ है। उद्दालक ने कहा हे श्वेतकेतो! मेरे इस कथनमें तू श्रद्धा कर। परन्तु श्वेत-केतु पिता के वचनोंमें श्रद्धा करके मौन नहीं हुआ. उसने कहा—मुझे फिर समझाइए। इससे ऐसी शिक्षा मिलती है कि जब तक जिज्ञासु की शंकाओंका ठीक ठीक समाधान न हो जाए तब तक उसे गुरुसे पूछते ही रहना चाहिए। क्योंकि आत्मज्ञान विचारका विपय है, केवल श्रद्धाका विपय नहीं। "स य एष"=गहरी नींद का मनसे रहित जो निर्विशेप निरंजन एक एवं शुद्ध सत् था, वह गहरी नींदके बाद मनके सहित होकर प्राज्ञ, तैजस और विश्व नामक जीव बन गया। इसीका रूप यह सब कारण. सूक्ष्म और स्थूल शरीर है। परन्तु मनसे रहित वह गहरी नींदका सत् ही सत्य है, वह अपना वास्तविक स्वरूप है, हे श्वेतकेतो! "वह तू है"। तात्पर्य यह है कि जाग्रत् अवस्थाको लेकर "तत्त्वमसि" का 'वह तू है', ऐसा अर्थ बनता है। क्योंकि जाग्रतमें यह 'तू' नामक जीवात्मा, 'वह' से यानी निर्गुण शुद्ध सत्-रूपसे मनके

सहित होकर 'तू' बन गया है। इसप्रकार "तत्त्वमसि" वाक्यने गाढ़ सुषुप्तिमें मनसे रहित सत्का निर्विकार शुद्ध 'वह' रूप दिखा दिया, और उसी सत् का जाग्रत्में मनके सहित वाचारम्भणमात्र विकारी और असत्य 'तू' रूप दिखा दिया। क्योंकि ऐसा ज्ञान होने पर ही जीव, शुद्ध सत्की ओर जा सकता है।

'यदि तत् सत्'–इत्यादि शांकरभाष्यका अनुवाद—यदि वह सत् जगत्का कारण है तो उपलब्ध क्यों नहीं होता? हे भगवन्! इस बात को आप दृष्टांत द्वारा मुझे फिर समझाइए। ऐसा श्वेतकेतुने कहा—तब पिताने सोम्य! अच्छा, ऐसा उत्तर दिया। ॥खण्ड १२॥

तेरहवां खण्ड

"लवणमेतदुदके" इत्यादि तीन श्रुतियोंका संक्षिप्त अनुवाद—हे सोम्य! इस नमक को जलमें डालकर कल मेरे पास आकर इस नमकको ढूंढ़ना। श्वेतकेतुने ऐसा ही किया। परन्तु उसे डलीरूप (पिंडभूत) नमक उस जलमें नहीं मिला। आरुणिने कहा—नमक इसमें विलीन हो गया है, इसीलिए तू उसे नेत्रसे नहीं देख सकता। उसे यदि तू जानना चाहता है तो इस जलके ऊपर, मध्य और नीचे भाग का आचमन कर। श्वेतकेतुके आचमन करने पर आरुणिने पूछा—कैसा है? श्वेतकेतुने कहा—नमकीन है। आरुणिने कहा—इस जलमें नमक सदा विद्यमान है। ऐसे ही वह सत् भी इस शरीरमें सदा विद्यमान है, तू उसे देखता नहीं। वह जो यह अणिमा है, इसीका रूप यह सब है, वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो! 'वही तू है'। श्वेतकेतुने कहा—मुझे फिर समझाइए। आरुणिने कहा—सोम्य! अच्छा ॥खण्ड १३॥

भावार्थ—आठवें खण्डमें सुपुप्ति तथा मरण अवस्था द्वारा सत्का शुद्ध-रूप दिखाया, और जाग्रत्में उसीका विकारीरूप दिखा दिया। परन्तु सत्की सदा ही शुद्धरूपसे स्थितिका कोई साधन नहीं बताया। उसका साधन है विवेक आदि पूर्वक निर्विकल्प समाधि। वह जाग्रत्में ही हो सकती है। अतः जाग्रत्के ग्रहणसे उसका भी ग्रहण किया है। जिसप्रकार जलमें विलीन हुआ नमक दर्शन-स्पर्शनसे गृहीत न होता हुआ भी वहां विद्यमान है। क्योंकि उसका जीभसे ग्रहण होता है। उसी प्रकार कारण-कार्यरूप शरीरमें विद्यमान होता हुआ भी सत् आत्मा, उपायान्तरसे उपलब्ध हो सकता है।

"स य एषोऽणिमा"—इत्यादि तीसरी श्रुतिका भावार्थ—निर्विकल्प समाधिमें मनसे रहित जो निर्विशेष; अकथनीय एवं शुद्ध सत् था वह समाधिके अन्तमें मनके सहित होकर 'मैं' नाम वाला कर्त्ता भोक्ता जीव हो गया। इसीका रूप यह सब कारण-कार्य-रूपी शरीर है, वह समाधिका सत् ही सत्य है, वही अपना स्वरूप है। हे श्वेतकेतो! "वही तू है" अर्थात् तू ही ज्ञेय ब्रह्म है। यहां भी "वही तू है" इसके स्थानमें 'तू वही है', ऐसा परिवर्तन कर लेना चाहिए। क्योंकि निर्विकल्प समाधिमें यह 'तू' से 'वह' हो जाता है।

श्वेतकेतुने कहा—यदि वह सत् उपायान्तरसे उपलब्ध होता है तो उसकी प्राप्तिका क्याउपाय है? इस बातको हे भगवन्! आप दृष्टान्त द्वारा मुझे फिर समझाइए। तब अरुणिने कहा—सोम्य! अच्छा ॥खण्ड १३॥

—❀—

चौदहवां खण्ड

"यथा सोम्य"—इत्यादि तीन श्रुतियोंका संक्षिप्त अनुवाद—
हे सोम्य ! जैसे कोई चोर किसी धनी पुरुषकी आंखें बांधकर उसे गान्धार देश से ले आए और उसका धन छीनकर किसी जनशून्य स्थान में छोड़ दे। उस जगह वह पुरुष क्रमसे चारों ही दिशाओं की ओर मुख करके चिल्लाए कि मेरी आँखें बाँधकर मुझे यहां लाया गया है और वैसे ही छोड़ दिया गया हूँ। ऐसी उसकी पुकार सुनकर कोई दयालु पुरुष, उस पुरुष के बन्धन खोलकर कहे कि गान्धार इस दिशामें है; अतः तू इसी दिशाको चला जा। तो वह बुद्धिमान् पुरुष एक ग्रामसे दूसरा ग्राम पूछता हुआ गान्धार में ही पहुँच जाता है। ऐसे ही आचार्यवान् पुरुष ही सत् को जानता है। फिर उसका मोक्ष होनेमें उतना ही विलम्ब है जब तक कि वह प्रारब्ध कर्मकी भोगसे समाप्ति नहीं कर देता। उसके पश्चात् तो वह सत् से सम्पन्न हो जाता है, वह जो अणिमा है, इसीका रूप यह सब है, वह सत्य है, वह आत्मा है, हे श्वेतकेतो ! "वही तू है"। श्वेतकेतुने कहा—मुझे फिर समझाइए। आरुणिने कहा—सोम्य ! अच्छा ॥खण्ड १४॥

भावार्थ—यथायं दृष्टान्तो वर्णितः—इत्यादि शांकर भाष्यका अनुवाद = जिस प्रकार इस दृष्टांतका वर्णन किया गया है अर्थात् अपने देश गान्धारसे चोरों द्वारा आंखे बांधकर लाया जानेके कारण विवेक-शून्य, दिङ्मूढ़ तथा भूख-प्याससे युक्त होकर व्याघ्र तस्कर आदि अनेकों भय और अनर्थ-समूहसे सम्पन्न वनमें प्रवेशित किया हुआ पुरुष दुःखार्त होकर चिल्लाता हुआ बन्धनों से मुक्त होनेके लिए उत्सुक था और वह किसी कृपालु द्वारा उन बन्धनोंसे छुड़ा दिये जाने पर किसी प्रकार अपने देश गान्धारमें

पहुँचकर ही कृतार्थ यानी सुखी हुआ।

ठीक इसीप्रकार संसारके आत्मस्वरूप सत्से तेज, जल और अन्नादिमय देहरूप वनमें, जो कि वात, पित्त, कफ, रुधिर, मेद, मांस, अस्थि, मज्जा, शुक्र, कृमि और मल-मूत्रसे पूर्ण तथा शीतोष्णादि अनेकों द्वन्द्व और सुख-दुःखसे युक्त है, यह जीव मोहरूप वस्त्रसे बंधे हुए नेत्रवाला होकर, तथा स्त्री, पुत्र, मित्र, पशु और बन्धु आदि दृष्ट तथा अदृष्ट अनेकों विषयतृष्णाओंसे जकड़ा जाकर पुण्य-पापरूप चोरों द्वारा प्रवेशित कर दिये जाने पर 'मैं इसका पुत्र हूं, ये मेरे बान्धव हैं, मैं सुखी, दुःखी, मूढ़, पण्डित, धार्मिक अथवा बन्धुमान् हूँ, मैं उत्पन्न हुआ हूँ, मरता हूँ, जराग्रस्त हूं, पापी हूं, मेरा पुत्र मर गया है, धन नष्ट हो गया है, हा ! मैं मारा गया, अब कैसे जीवित रहूंगा ? मेरी क्या गति होगी ? अब मेरा रक्षक कौन है ?' इसीप्रकारके अनेकों सैंकड़ों अनर्थजालोंसे युक्त होकर रोता हुआ जब पुण्यकी अधिकता होनेसे किसी प्रकार किसी परम कृपालु सद्ब्रह्मात्मज्ञ बन्धन-मुक्त ब्रह्मनिष्ठ महापुरुषको प्राप्त होता है और उस ब्रह्मवेत्ता द्वारा दयावश सांसारिक विषयोंसे विरक्त हो जाता है तथा 'तू' संसारी नहीं और न इसके पुत्रत्वादि धर्मवाला ही है, तो कौन है ? जो सत् तत्त्व है 'वही तू है'। इसप्रकारके उपदेशसे अविद्यामय मोह-रूप वस्त्रके बन्धनसे छुड़ाया जाकर गान्धार देशीय पुरुषके समान अपने सदात्माको प्राप्त होकर सुखी और शान्त हो जाता है— इसी बातको (आरुणिने) 'आचार्यवान्पुरुषो वेद' इस वाक्यसे कहा है।

'स य एषोऽणिमा'—इत्यादि श्रुतिका भावार्थ—समाधिदशा में अव्यक्तके सत्में लीन हो जाने पर जो निर्गुण, निर्विशेष, निर्द्वैत

एक ही शुद्ध सत् ब्रह्म था वह, समाधिके अन्तमें अव्यक्तके सहित होकर प्राज्ञ नामक सापेक्ष ईश्वर या जीव बन गया। यह सूक्ष्म है, इसीका रूप यह सब स्वप्न जाग्रत्‌रूप प्रपंच है। परन्तु वह समाधिका सत् ही सत्य है, वह अपना स्वरूप है, हे श्वेतकेतो! 'वह तू है'। यहां भी "तत् त्वं असि"=वह तू है, इसके स्थानमें "त्वं तत् असि"= तू वह है, ऐसा परिवर्तन कर लेना चाहिए। क्योंकि समाधिमें यह जीवात्मा 'तू' से 'वह' यानी शुद्ध सच्चिदानन्द होजाता है।

आठवें खण्डमें बतलाई हुई सत्की सुषुप्ति और जाग्रत-अवस्थाका विस्तृत वर्णन किया जा चुका है। अब श्वेतकेतु सत्की शेष रही मरण-अवस्थामें स्थिति पूछना चाहता है। इसीसे वह कहता है कि मुझे फिर समझाइए। उद्दालक ने कहा—सोम्य! अच्छा।

यहांके "आचार्यवान्" इत्यादि शांकर भाष्यका अनुवाद-हे भगवन्! आचार्यवान् विद्वान् जिस क्रमसे सत्को प्राप्त होता है वह क्रम मुझे दृष्टांत द्वारा फिर समझाइए? ऐसा श्वेतकेतुने पूछा। तब आरुणिने कहा—सोम्य! अच्छा ॥खण्ड १४॥

पंद्रहवां खण्ड

"पुरुषं सोम्य"–इत्यादि तीन श्रुतियोंका संक्षेपमें अनुवाद हे सोम्य! ज्वर आदिसे संतप्त मरणासन्न पुरुषको चारों ओरसे घेर कर उसके बान्धवजन पूछा करते हैं। क्या तू मुझे जानता है? क्या तू मुझे जानता है? जब तक उसकी वाणी मनमें लीन नहीं हो जाती तथा मन प्राणमें, प्राण तेजमें, और तेज परमात्मामें लीन नहीं हो जाता तब तक वह पहचान लेता है। फिर जिस समय उसकी वाणी मनमें लीन हो जाती है, मन प्राणमें, प्राण तेजमें,

और तेज परमात्मदेवमें लीन हो जाता है, तब वह नहीं पहचानता। वह जो यह अणिमा है, इसीका रूप यह सब है, वह सत्य है, वह आत्मा है, हे श्वेतकेतो! 'वही तू है'। श्वेतकेतुने कहा मुझे फिर समझाइए। आरुणिने कहा—सोम्य! अच्छा ॥खण्ड १५॥

"स य एषोऽणिमा"—इत्यादि तीसरी श्रुतिका भावार्थ—मरण-अवस्थामें अव्यक्त बुद्धि या मनके सत्‌में लीन हो जाने पर जो निर्गुण निर्विशेष द्वैतरहित एवं शुद्ध ब्रह्म सत् था, वह मर जाने के कुछ समय बाद अव्यक्त बुद्धि या मनके सहित होकर प्राज्ञ नामवाला जीव हो गया; यह सूक्ष्म है, इसीका रूप यह सब सूक्ष्म और स्थूल शरीरके सहित तैजस और विश्वरूप हैं, परन्तु मरणमेंका सत् ही सत्य है, और वही अपना स्वरूप है, हे श्वेतकेतो! "वह तू है"। यहां भी 'वह तू है" इसके स्थान पर "तू वह है" ऐसा अर्थ समझना चाहिए। क्योंकि मृत्युमें यह जीवात्मा 'तू' से 'वह' यानी शुद्ध सच्चिदानन्द हो जाता है।

"यदि भरिष्यतः"—इत्यादि शांकरभाष्यका अनुवाद-यदि मरने-वाले और मुमुक्षुकी सत्संपत्ति एक जैसी है तो विद्वान सत्को प्राप्त होकर नहीं लौटता और अविद्वान् लौटता है-इस में जो कारण है, हे भगवन्! दृष्टांत द्वारा मुझे फिर समझाइए। (ऐसा श्वेतकेतुने कहा) तब आरुणिने कहा—सोम्य! अच्छा ॥खण्ड १५॥

सोहलवां खण्ड

"पुरुषं सोम्योत हस्तगृहीतं"—इत्यादि श्रुतियोंका संक्षिप्त अर्थ—हे सोम्य! राजाके कर्मचारी लोग किसी पुरुषके हाथ बांधकर लाते हैं। और कहते हैं कि इसने धनकी चोरीकी है। इसके लिए परशु = कुल्हाड़ा तपाओ। वह यदि चोरी करनेवाला

होता है तो झूठको अन्दरमें छिपा कर परशुको पकड़ता है तब उसका हाथ दग्ध हो जाता है। और वह राजाके पुरुषों द्वारा मारा जाता है। और यदि वह चोरी करनेवाला नहीं होता तो वह सत्यको अन्दरमें आवृत कर परशुको पकड़ता है तो वह उससे नहीं जलता, और तत्काल छोड़ दिया जाता है। वह जिसप्रकार उस (परीक्षाके) समय नहीं जलता (उसी प्रकार विद्वान् का पुनरावर्तन नहीं होता और अविद्वान्का होता है) वह सब एतद्रूप ही है, वह सत्य है, वह आत्मा है, और श्वेतकेतो ! वही तू है। तब वह=श्वेतकेतु उसे जान गया–उसे जान गया ॥खंड १६॥

'स यथा सत्याभिसन्धः'–इत्यादि शांकर–भाष्यका अनुवाद-वह सत्याभिसन्ध पुरुष जिस प्रकार उस तप्त परशुको ग्रहण करनेके कर्ममें हथेलीके सत्यसे व्यवहित रहनेके कारण नहीं जलता, उसीप्रकार देहपातके समय सद्ब्रह्मरूप सत्में निष्ठा रखनेवाले और उससे भिन्न असन्निविष्ट पुरुषकी सत्संपत्तिमें समानता होने पर भी जो विद्वान् है वह व्याघ्र अथवा देवादि शरीरोंको ग्रहण करनेके लिए नहीं लौटता, किन्तु अविद्वान् विकाररूप अनृतमें अभिनिविष्ट होनेके कारण अपने कर्म और ज्ञानके अनुसार पुनः व्याघ्रादि भाव अथवा देवादिभावको प्राप्त हो जाता है।

मरणमें और कैवल्यमुक्तिमें अन्तर–

जिस प्रकार दो मनुष्य काशीजी पहुंच गये। उनमें जो मनुष्य पीछे कुछ काम शेष रखकर काशीमें पहुंचा है, वह दो चार दिनके बाद काशीसे लौट आता है। जो मनुष्य पीछे कुछ भी काम शेष रख कर नहीं गया, वह काशीसे नहीं लौटता। परन्तु काशीमें दोनों ही मनुष्य पहुंच गये हैं। उसी प्रकार जिस

मनुष्यका बुद्धि या मन पुण्य-पापोंके संस्कारोंके सहित मरणके सत्में लीन हुआ है, वह मरणमें मुक्त सद्रूप होकर भी वहांसे लौट कर जन्म ग्रहण करता है। जिस मनुष्यका मन, मरणके सत्में पुण्य-पापोंको ज्ञानरूप अग्निसे दाह करके लीन हुआ है वह सत् सदाके लिए मुक्त हो जाता है, परन्तु मर जाने पर ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही मुक्त सद्ब्रह्म हो गये हैं। मरणासन्न इस पुरुषकी वाणी मनमें लीन हो जाती है तथा मन प्राणमें, प्राण तेजमें और तेज परमात्मामें लीन हो जाता है।

"तदेवं क्रमेणोपसंहृते स्वमूलं प्राप्ते च मनसि"—इत्यादि (आठवें खण्डके) शांकरभाष्यका अनुवाद—तब इस प्रकार क्रमशः उपसंहृत होकर मनके अपने मूलभूत पर-देवताको प्राप्त होने पर उसमें स्थित जीव भी सुषुप्तकालके समान अपने निमित्त (मन) का उपसंहार हो जानेके कारण उपसंहृत होता हुआ यदि सत्यानु-संधान-पूर्वक उपसंहृत होता है तो सत्को ही प्राप्त हो जाता है। सोकर जगे हुए पुरुषके समान फिर देहान्तरको प्राप्त नहीं होता। जिसप्रकार कि लोकमें भयपूर्ण देशमें रहनेवाला कोई प्राणी किसी प्रकार अभय देशमें पहुंच जानेपर (फिर वहां से नहीं लौटता) उसीप्रकार (यह भी नहीं लौटता) किन्तु अन्य जो अनात्मज्ञ है वह सोने से जगे हुए पुरुषके समान मरनेके अनन्तर उस अपने मूलसे जिस मूलसे कि जीव उठकर देहमें प्रवेश करता है, उठकर फिर देहपाशमें प्रवेश करता है ॥६॥

इस उक्त भाष्यके अनुसार, वासना-रहित मनके स्वस्वरूप-भूत सत् ब्रह्ममें लीन हो जानेपर जो सदाके लिए सो जाना है, मर जाना या अमर होजाना है, वह कैवल्यमुक्ति या विदेहमुक्ति है।

"यदात्माभिसन्ध्यनभिसन्धिकृते"—इत्यादि शांकरभाष्यका

अनुवाद—जिस आत्माकी अभिसन्धि और अनभिसन्धिके कारण मोक्ष और बन्धन होते हैं, जो संसारका मूल है, सम्पूर्ण प्रजा जिसके आश्रित और जिसमें प्रतिष्ठित हैं, सारा संसार जिस स्वरूपवाला है, तथा जो अजन्मा, अमृत, अभय, शिव और अद्वितीय है, वही सत्य है और वही तेरा आत्मा है, अतः हे श्वेतकेतो ! "तू वह है।" इसप्रकार इस वाक्यका अर्थ कई बार कहा जा चुका है। इति।

स्मरण रहे कि इस भाष्यने तत् नाम वाले सत्को माया आदि सभी उपाधियोंसे रहित शुद्ध ब्रह्म माना है। इसलिए इसमें किसी भी प्रकारकी लक्षणावृत्तिके लिए स्थान नहीं।

"कः पुनरसौ श्वेतकेतुस्त्वं शब्दार्थः" इत्यादि शांकरभाष्यका अनुवाद—(अब यहां प्रश्न होता है कि) त्वं शब्दका वाच्य यह श्वेतकेतु कौन है ? (उत्तर) जो मैं श्वेतकेतु उद्दालकका पुत्र हूं–ऐसा अपनेको जानता था तथा जिसने (अपने पिताके) उस आदेशका श्रवण, मनन और ज्ञान प्राप्त करके, अश्रुत, अमत और अविज्ञातको जाननेके लिए पितासे पूछा था कि भगवन् ! वह आदेश किस प्रकार है। वह यह अधिकारी श्रोता, मन्ता और विज्ञाता दर्पणमें प्रतिफलित हुए पुरुष और जलादिमें प्रतिबिंबरूपसे प्रविष्ट हुए सूर्यादिके समान तेज, जल, अन्नमय, देहेन्द्रिय–संघातमें नामरूपकी अभिव्यक्ति करनेके लिए प्रविष्ट हुआ परमात्मदेव ही है। वह पिताका उपदेश सुननेसे पूर्व अपनेको देह और इन्द्रियोंसे भिन्न सद्‌रूप सर्वात्मा नहीं जानता था। अब 'तू वह है' इसप्रकार दृष्टांत और हेतुपूर्वक पिता द्वारा समझाया जाने पर यह पिताके इस कथनको कि 'मैं सत् ही हूं' समझ गया है।

शांकर भाष्यका सारांश

शांकर भाष्यने तत्त्वमसिके प्रकरणमें जहां तहां दृष्टांत स्वरूप १—जल, उसमें सूर्यका प्रतिबिम्ब और सूर्यको रखा है और २—दर्पण उसमें मुखका प्रतिबिम्ब मुखको रखा है। दार्ष्टान्तिमें, मन और मनमें आत्माका प्रतिबिम्ब और आत्माको 'त्वं' माना है, जो कि कर्त्ता भोक्ता जीव है। दृष्टांतमें जलके न रहनेसे केवल सूर्यके समान और दर्पणको हटा लेनेसे अकेले मुखके समान, दार्ष्टान्तिमें मनके न रहने से केवल शुद्ध सच्चिदानन्द आत्माको तत् पदसे ग्रहण किया है, जो कि अकर्ता अभोक्ता परमात्मा है। जिस प्रकार कुंआँ, बावली, तालाब आदि के जल अनेक हैं, उनमें प्रतिबिम्ब भी अनेकों ही हैं, किन्तु बिम्बरूप सूर्य एक है। उसी प्रकार देव दानव आदिके भेदसे मन भी असंख्य हैं, उनमें प्रतिबिम्बरूपी त्वं नामवाले जीव भी असंख्य ही हैं। परन्तु सूर्यस्थानी तत् नामवाला शुद्ध सत् एक ही है। कारण कि उसी सत् नामक परमात्माने इस मनः—प्रधान संघातमें जीवरूपसे प्रविष्ट होकर नामरूपको प्रकट किया है।

छठे अध्यायके सारभूत तत्त्वमसि का अर्थ

अव्यक्त बुद्धि और मनसे रहित महाप्रलयकी और सुषुप्ति की मध्य अवस्थाका, निर्विकल्प समाधिका, मरणका, और कैवल्य मुक्तिका, 'तत्' नामवाला जो सत् है वह मृत्तिका स्वर्ण और लोहके समान पारमार्थिक सत्य है और शुद्ध ब्रह्म है। अव्यक्त बुद्धि और मनके सहित महाप्रलयकी और सुषुप्तिकी आदि और अन्त अवस्थाका, स्वप्न तथा जाग्रतका, 'त्वं' यानी तू नामवाला जो सत् है वह, घट कंकण और चिमटे आदिके

समान कार्य विकार अनृत परिच्छिन्न और कर्ता भोक्ता [संसारी= जीव है। इसलिए अव्यक्त बुद्धि और मनके सहित जो सत् है वह श्वेतकेतु नामवाला जिज्ञासु रूपी 'तू' है। इसे विवेक आदि साधन-संपत्तिके सहित होकर आत्मज्ञान द्वारा अव्यक्त बुद्धि और मनको लीन करके कैवल्यका तत् या 'वह' नामवाला अपना ही शुद्ध स्वरूप जो सत् ब्रह्म है उस रूपसे स्थित हो जाना चाहिए।

इति श्रीमत्परमहंस-परिव्राजकाचार्येण दण्डी-संन्यासीना श्री १०८ श्रीरामतीर्थेन लिखितः 'तत्त्वमसि'-महावाक्यार्थः सम्पूर्णतामगात्।

❀ ❀
❀

श्री दण्डी सन्यासी रामतीर्थ जी

की

लिखी हुई पुस्तकें

१—शास्त्रीय धर्म दिवाकर

२—वैदिक ब्रह्म विचार

३—वेदोक्त नित्यकर्म

४—विचार-सागरके पूर्व—अपर सिद्धांतमें महाविरोध

५—वैदिक—भक्ति—ज्ञान-फलम् (संस्कृतभाषायाम्)

६—वेदोक्त भक्ति-ज्ञान तथा इनका फल

७—तत्त्वमसि का अर्थ

मुद्रक—हरिश्चन्द्र, यमुना प्रेस, हरिद्वार।